संस्कृत-नाट्य-साहित्य में स्त्री-पात्र-
एक समीक्षात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

पर्यवेक्षक

डॉ० हरिदत्त शर्मा

संस्कृत-विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तोत्री

कु० मधूलिका अस्थाना

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

१९८९

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में स्त्री-पात्र —

एक समीक्षात्मक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0फिल्0उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

पर्यवेक्षक

डॉ0 हरिदत्त शर्मा

संस्कृत विभाग,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

प्रस्तोत्री

कु0 मधुलिका अस्थाना

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद

1989

"प्राक्कथन"

"नाट्य" मानव-जीवन के समस्त आभ्यन्तर एवं बाह्य व्यवहारों को समुचित दिशा प्रदान करता है । "दृश्य" और "श्रव्य" की अनूठी परम्परा से जुड़ा होने के कारणवश यह मानव-मन पर भावों को सहज ही प्रक्षेपित करता है । नाट्य जीवनादर्श अर्थात्,जीवन जीने की कला से जुड़ा हुआ है क्योंकि नाट्य स्थूल से सूक्ष्मतम की ओर ले जाने वाली एक गुह्यतर सर्जनात्मक प्रक्रिया है । इसका सर्वप्रथम प्रणयन करने वाले पुरोधा आदि आचार्य ऋषि भरत थे, जिन्होंने अपने तेजस् -बल से इस विधा का पुष्पन-पल्लवन किया, जो आज भी मनीषियों,चिन्तकों एवं विचारकों को अपनी ओर बलात् आकर्षित करने की क्षमता रखता है । नाट्य निस्सन्देह ही साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विलक्षण विधा है, जो अज्ञान से ज्ञान की ओर या अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली महानतम प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हमारे इतिहास-पुरुषों, लोक-नायकों,राष्ट्र-निर्माताओं तथा प्रेरणाप्रद व्यक्तियों के इतिहास को पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखा जा सकता है और नाट्य प्रत्येक मानव-हृदय को आन्दोलित करने में सक्षम रहा है । अस्तु, मुनि भरत ने जो हजारों वर्ष पूर्व सामाजिक,सांस्कृतिक,राजनैतिक और जातीय जीवन के एकत्व का परम कल्याणकारी सन्देश दिया था, उसी के परिणामस्वरूप आज हमारी संस्कृति अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है और नूतन प्रकाश देने में पूर्णतः समर्थ है ।

स्त्री और पुरुष दोनों ही इस सृष्टि के मौलिक आधार-स्तम्भ हैं । नारी त्याग, सहिष्णुता,क्षमा, लज्जा, विनय, संयम, वात्सल्य, धैर्य,स्नेह, पवित्रता, कोमलता एवं तपस्या आदि की मूर्ति है तथा वह विभिन्न रूपों में

पुरुष के सहयोग से शाश्वत निर्माण की प्रक्रिया को पूर्ण करती है । प्रकृति-स्वरूपा नारी से ही सर्जन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है वह निर्माण को शाश्वत धारा को प्रवाहित करती है । आदि आचार्य ऋषि भरत ने नारी की महत्ता को विभिन्न रूपों में स्वीकार किया है । यद्यपि उन्होंने संस्कृत-नाट्य में स्त्री-पात्रों को श्रृङ्गार-रस तक ही केन्द्रित किया है, तथापि वे इसे उच्चतर आयामों तक ले जाने का भी यत्न करते दिखाई पड़ते हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन काल में स्त्रियाँ सामाजिक, राजनैतिक,आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टि से प्रतिबन्धित थीं, इसी कारणवश ऋषि भरत ने नायिका-विभाजन को श्रृङ्गार-रस तक केन्द्रित रखा । परवर्ती आचार्यों ने भी नायिका-विभाजनमें नूतन सर्जनात्मक दृष्टिकोण अपनाए हैं, किन्तु वे सभी अधिकांशतः भरत के ही मत को पुनर्व्याख्यात या पिष्टपेषण करते दिखाई पड़ते हैं । सहायक स्त्री-पात्रों की विवेचना में ऋषि भरत ने अन्तःपुर में प्रयुक्त होने वाले स्त्री-पात्रों तक ही विभाजन को सीमित किया है, उससे परे वे मौन हैं । परवर्ती आचार्यों ने सहायक स्त्री-पात्रों को भी कतिपय परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया है । यद्यपि ऋषि भरत एवं परवर्ती आचार्यों के दृष्टिकोणों में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं है,तथापि परवर्ती आचार्यों ने कुछ नए प्रकार के स्त्री-पात्रों का समावेश किया गया है . नायिकाओं के अलङ्कारों के विषय में ऋषि भरत तथा परवर्ती आचार्यों के मतों में पूर्णरूपेण सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है । अलङ्कार सात्त्विक भावों एवं रस पर आधारित एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक विषय-वस्तु है । अलङ्कारों को नायिकाओं की भाव-सम्प्रेषणीयता से जोड़ा गया है । भाव सम्प्रेषणीयता ही वह प्रमुख तत्त्व है जिसके माध्यम से रस की अभिव्यक्ति होती है । वर्तमान समय में भी नायिकाओं के अलङ्कारों की अवहेलना साधारणतया कोई भी नाट्य-सर्जनकार नहीं कर सका है ।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में स्त्री-पात्रों के सन्दर्भ में नायिका-विभाजन की परम्परा तीन प्रकार से विकसित हुई है । प्रथमतः, ऋषि भरत द्वारा प्रतिपादित मौलिक एवं शाश्वत दृष्टि, द्वितीयतः, परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया विकास, तृतीयतः, नाट्य-सर्जनकारों ने अपने नाट्य-काव्यों में नए प्रकार के स्त्री-पात्रों का समावेश किया है, जिसमें अधिकांश आधुनिक नाट्यकारों ने प्रमुख रूप से शास्त्रीय परम्परा के स्त्री-पात्रों की अवहेलना की है । अतएव हमने अपने प्रायोगिक पक्ष में आधुनिक नाट्यकारों द्वारा सर्जित स्त्री-पात्रों को अलग से अध्याय के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है ।

इस शोध-प्रबन्ध की प्राणप्रतिष्ठा का श्रेय डॉ० हरिदत्त शर्मा जी, प्रवक्ता, इलाहाबाद विश्वविद्यालय को है । उनका कुशल एवं सहृदयतापूर्ण निर्देशन अविस्मरणीय है तथा उनकी महती अनुकम्पा, अद्वितीय प्रतिभा एवं प्रतिभाशाली वचनादेशों का ही प्रतिफल है, जो कि मैं इस कार्य को पूरा करने में समर्थ हो सकी हूँ । उनके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ ।

अपने संस्कृत विभाग के समस्त गुरुजनों के प्रति पूर्ण कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे शोध-कार्य करने के योग्य बनने में सहयोग प्रदान किया ।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे पुस्तकें उपलब्ध कराने में यथेष्ट सहायता प्रदान की है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में टङ्कण की असुविधा के कारण प्रायः ञ, अवग्रह {ऽ}, अनुस्वार एवं अक्षरों का टूटे रूप में टङ्कण इत्यादि अशुद्धियाँ अनेकशः हो गई हैं, जिन्हें सुधारने का पूर्ण प्रयास किया गया है, किन्तु पुनः जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनके लिए मैं विबुधचरणों में सर्वदा क्षमाप्रार्थिनी हूँ ।

अन्त में मैं अपनी स्व० माता जी श्रीमती सीता अस्थाना की चिर-ऋणी रहूँगी, जिनकी आत्मीयता एवं स्नेहसिक्त प्रेरणा ही मेरे समस्त शोध-कार्य का सम्बल रही है । यह सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध उनके श्री-चरणों में समर्पित है ।

मधूलिका अस्थाना
{ कु० मधूलिका अस्थाना }

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1

संस्कृत -नाट्य - साहित्य - सामान्य समीक्षा

अध्याय-2

संस्कृत-साहित्य में स्त्री-पात्रों का ऐतिहासिक एवं सामाजिक सर्वेक्षण

अध्याय - 3

"नायिकाओं की नाट्य-शास्त्रीय समीक्षा"

अध्याय - 4

"नाट्य में सहायक स्त्री-पात्रों का शास्त्रीय-अध्ययन"

अध्याय - 5

नायिकाओं के अलङ्कार - एक शास्त्रीय विवेचन

अध्याय - 6

आधुनिक संस्कृत-नाटकों के स्त्री-पात्र

अध्याय - 7

(अध्याय - 1)

संस्कृत नाट्य - साहित्य -

सामान्य समीक्षा

भूमिका

सभ्यता के अरुणोदय काल से ही मानव-मन नूतन सर्जनाओं की ओर अग्रसर रहा है । हमारे आदि ऋषियों, मनीषियों तथा चिन्तकों ने सदैव नवीन दिशाओं और आयामों का सर्जन अपनी मेधा के बल पर किया है, जिसका आलोक सारे संसार में देदीप्यमान है । आदि काल में "नाट्य" का आविर्भाव "ऋषि भरत" द्वारा अपने तेजस्-बल से हुआ है, जो कि संसार की एक अनूठी कृति है ।

ऐतिहासिक काल-क्रम में यदि नाट्य-शास्त्र के अभ्युदय की स्थितियों का आकलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि काव्य के क्षेत्र में यह एक विलक्षण और सर्वथा नूतन आविर्भाव था, जिसके लिए तत्कालीन परिथितियाँ भी बहुत अधिक उत्तरदायी थीं, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में नाट्य के क्षेत्र में अत्यन्त उदार दृष्टिकोण परिलक्षित होता है । उस समय समाज के किसी भी अंग में संकीर्णता और अनुदारता का परिचय नहीं मिलता , किन्तु यह सम्भव है कि बाद की परिस्थितियाँ इसके विपरीत हों । इसी के फलस्वरूप "ऋषि भरत" के मन में विक्षोभ हुआ हो और उन्होंने सार्ववर्णिक नाट्य का प्रादुर्भाव भारतीय समाज की जातीय एवं सांस्कृतिक चेतना को जाग्रत करने हेतु किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने अपने "नाट्यशास्त्र" में धर्म, अर्थ तथा यश आदि की समस्त शिक्षाओं का समावेश किया है । अस्तु, नाट्य हमारे जातीय-

---

जीवन के सांस्कृतिक-विकास की ऐतिहासिक यात्रा को सारे संसार में आलोकित करता है, क्योंकि नाट्य का इतिवृत्त मानव-जीवन का ही प्रतिबिम्ब है और वह उसको पूर्णतया आलोकित करने में सक्षम है ।

नाट्य अपनी ऐतिहासिक-यात्रा में वेद, धर्म और महाकाव्यों से निःसृत ज्ञान और लोकानुरंजनी संस्कार तथा आदर्श व्यक्तियों के उदात्त चरित्र को आधुनिक युग तक पूर्णरूपेण जीवन्त रख सका है । समाज में विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताएँ एवं लोक-जीवन की अनेक लीलाओं ने नाट्य के उद्भव और विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है । फलतः संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त एक सतत विकासशील सिद्धान्त सिद्ध हुआ है । इसी सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत नाट्य-शास्त्रियों एवं रूपककारों या कवियों ने जिस रूपक - परम्परा का प्रणयन किया है उसी पर आधृत परवर्ती आचार्यों ने नाट्य-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना की है । तात्पर्य यह है कि पहले रूपक-साहित्य की रचना हुई है, तत्पश्चात् उसका विवेचन हुआ है, क्योंकि संस्कृत-साहित्य का यह अत्यन्त प्राचीनतम सिद्धान्त है कि सर्वप्रथम लक्ष्य-ग्रन्थों का आविर्भाव होता है तत्पश्चात् लक्षण-ग्रन्थ प्रकाश में आते हैं । लक्षण ग्रन्थों की अनिवार्यता वास्तव में कवि या नाट्यकारों की उच्छृंखलता पर नियन्त्रण करने के लिए होती है । अतएव परवर्ती आचार्यों द्वारा लक्षण-ग्रन्थों की संरचना बहुधा इसी कारण की जाती है कि कवि या नाट्यकार लक्ष्य-ग्रन्थों के मूल निर्देशों से विचलित न हो जाएं । परिणामतः संस्कृत नाट्यशास्त्र के

विशाल क्षेत्र में इसी परम्परा का अनुगमन किया गया है । इस प्रकार रूपकों की संरचना के उपरान्त नाट्य-विधाएँ अपने वैलक्षण्य के साथ पुष्पित-पल्लवित हुई हैं ।

आचार्य भरत से पूर्व कवि द्वारा सृष्ट काव्य-रचना स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई । उसका रङ्गमञ्चीय आकलन करना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसमें नाट्य की सैद्धान्तिक दृष्टि का सर्वथा अभाव है । आचार्य भरत ने कवि की काव्यरचना-प्रक्रिया के लिए कुछ विशिष्ट दिशा-निर्देश दिये हैं, जिसके अनुसार कवि द्वारा सर्जित काव्य नाट्य-दृष्टि के अनुकूल हों और वह रंगमंच पर मंचित किये जा सकें, क्योंकि नाट्य श्रव्य-काव्य के साथ-साथ दृश्य-काव्य भी है । कवि द्वारा स्वतन्त्र रूप से विकसित काव्य पाठक के मन से पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित करने में सर्वथा अक्षम है । नाट्य-काव्य-कला वास्तव में दृश्य-श्रव्य-काव्यकला है, जो सुमनस् सामाजिक के हृदय और मन पर पूर्णरूपेण प्रभाव अंकित करती है । प्रारम्भ में काव्य रचना के साधनात्मक, परम्परागत लक्षण मूर्त-अमूर्त रूप से विद्यमान रहते थे, जिनका बौद्धिक विश्लेषण नाट्यके सैद्धान्तिक पक्ष के अनुसार सूक्ष्म अर्थों में नहीं किया जा सकता था । परिणामतः काव्य-लक्षणों के स्वरूप की विवेचना के सन्दर्भ में भरत और परवर्ती आचार्यों में पर्याप्त भिन्नता परिलक्षित होती है । भरत के अनुसार काव्यार्थों की नाट्य से एक विशिष्ट अभिन्न संगति स्थापित होती है । जो इस प्रकार से अभिव्यक्त की जा सकती है - "काव्य-शब्दार्थ -

---

क्रियाव्यापारत्व-अभिनेयता - भाव - रस ।"

नाट्य की उपादेयता का रहस्य काव्य-शास्त्र की रसात्मकता में तिरोहित है । "नाट्य-शास्त्र" में काव्य की रस-निष्पत्ति के लिए विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों का संयोग अनिवार्य बताया गया है । तात्पर्य यह है कि काव्य ऐसे बाह्य विभावों की सर्जना करता है जो काव्य के आस्वाद का सुमनस-सामाजिक के हृदय में एक प्रमुख भावसहित उद्रेक तथा उद्दीपन कर सके इसके साथ ही साथ अनेक संचारी भावों द्वारा पुष्टता प्राप्त करता है और अन्ततोगत्वा रस के रूप में परिणत होता है । नाट्य में दृश्य और श्रव्य दोनों तत्त्वों की प्रचुरता होती है । इसकारण विभावों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा असीमित हो जाता है । परिणामतः भावों का विभावन एवं पोषण अत्यन्त सुगम हो जाता है एवं नाट्य के अन्य सहायक तत्त्व यथा वाद्य, गान, अभिनय, नृत्य इत्यादि भी विभावों का सर्जन सरलता एवं सुगमता से करते हैं । परिणामतः सुमनस् सामाजिकों के मन में एक अलौकिक एवं पारमार्थिक सौन्दर्य का निःश्रेयस आनन्द सहजता से उत्पन्न हो जाता है । अस्तु, यह वह प्राचीनतम कला है जो दुःख, श्रम तथा शोक का हरण कर मानव-जीवन में विश्रान्ति प्रदान करती है ।

"नाट्य शब्द का अर्थ एवं स्वरूप"

भारतीय वाङ्मय में "संस्कृत-नाट्य", काव्य की उत्कृष्टतम सिद्धि है। नाट्य आरम्भिक चरणों में "अवस्थानुकृति" था। तात्पर्य यह है कि काव्य में आबद्ध विभिन्न पात्रों की अवस्थाओं के अनुकरण को "नाट्य" की संज्ञा प्रदान की गई है, क्योंकि नाट्य मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है। इसमें आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के माध्यम से नट या नटी आदि अवस्था के अनुकरण के द्वारा ही नाट्य को पूर्णता प्रदान करते हैं। "अनुकरण" अपने स्थूल अर्थों में "किसी की नकल" है, किन्तु वास्तव में अनुकरण मानव-जीवन को सर्वाधिक सीखने, समझने एवं सोचने की प्रेरणा देता है। विद्या, ज्ञान एवं लौकिक-व्यवहार सब "अनुकरण" पर ही आधृत हैं। अतः "अनुकरण" स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने वाली वह सर्जनात्मक प्रक्रिया है, जो मानव-जीवन को संसार की समस्त कलाओं एवं विद्याओं का पूर्णरूपेण अभिज्ञान कराती है। नाट्य भी दृश्य एवं श्रव्य काव्य होने के कारण मानव की बाह्य तथा आन्तरिक समस्त प्रकृतियों का अनुकरण ही है तथा नट का सम्पूर्ण अभिनय-रस ही आस्वाद योग्य होता है। शब्दान्तर से नाट्य अपने प्रेक्षकों को सभी प्रकार के दुःख तथा क्लेश, श्रम-शोक एवं खिन्नता से मुक्त करके उनके हृदय को विश्रान्ति और आनन्द प्रदान करता है। इसके साथ ही साथ लोकवृत्त में धर्माचरण करने का उपदेश देता है, जिसमें समस्त ज्ञान, समस्त शिल्प, समग्र विद्याएँ, तथा समूची कला, योग, कर्म आदि का समावेश हो सके, वह "नाट्य" है[1]।

1- नाट्य शास्त्र 1/114-117 तथा अभिनवभारती ।

संस्कृत नाट्य-साहित्य में नाट्य के लिए "नाट्य", "नाटक", "रूप", "रूपक" तथा "रूप्य" शब्दों का प्रयोग होता है । सामान्यतः "नाट्य" शब्द की व्युत्पत्ति तथा स्वरूप के विषय में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत स्थापित किया है । नेत्रग्राह्य होने के कारण तथा किसी की अवस्था का आरोपण होने के कारण इसे "रूपक" कहा गया है । "नाट्य" शब्द की व्युत्पत्ति ही "नट् अवस्पन्दने" धातु से हुई है । "नट" धातु का तात्पर्य अवस्पन्दन या आंशिक रूप से चंचलता है । इसीलिए नाट्य में सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है । "नट" शब्द का प्रयोग पाणिनि-सूत्रों में भी मिलता है । पाणिनि के मतानुसार "नाट्य" शब्द की व्युत्पत्ति नट् शब्द से "धर्म" अथवा "आम्नाय" अर्थ में क्रिया-प्रत्ययपूर्वक होती है[1]। इस परिभाषानुसार नट के धर्म अथवा कर्म को भी नाट्य कहा जा सकता है, किन्तु यह व्याख्या सीमित अर्थ प्रदान करती है । आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में "नाट्य" शब्द की स्पष्ट व्याख्या करते हुए बतलाया है कि "विभिन्न प्रकार के भावों से युक्त तथा विभिन्न अवस्थाओं वाला, आंगिक और वाचिक अभिनयों से युक्त लोक-चरित या लोक-व्यवहार ही "नाट्य" कहलाता है[2]। नाट्य के वास्तविक स्वरूप के अधिग्रहणार्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि स्वानुभूतियों को अभिव्यक्त करना मानव स्वभाव है । स्वानुभूति को दूसरों की अनुभूति बनाने के लिए ही नट अभिव्यक्ति का आश्रय लेता है ।

1- अष्टाध्यायी 4/3/129.

2- नाट्यशास्त्र 19/114.

नाट्य के विषय में आचार्य भरत का स्वरूप-विवेचन इसी उपर्युक्त भावभूमि पर ही आधारित है। भरत ने इस समस्त त्रिलोकी के भावानुकीर्तन को "नाट्य" कहा है[1]। परन्तु आचार्य अभिनवगुप्त इसके विपरीत "नाट्य" को लौकिक पदार्थ से भिन्न मानते हैं[2]। नाट्य में जो नट राम आदि का रूप धारण करके अभिनय करता है, नाटक देखते समय उसमें सामाजिक को यह अनुभव नहीं होता कि यह राम का अनुकरण है। यदि इस प्रकार का अनुभव हो तो सामाजिक को रसास्वादन नहीं होगा। अस्तु, नाट्य का ज्ञान सभी प्रकार की लौकिक प्रतीतियों से भिन्न प्रकार का होता है। नाट्य की उत्पत्ति के मूल में अनुकरण हो सकता है, परन्तु अनुकृतिमात्र नाट्य नहीं है। उनके अनुसार इस "अनुकीर्तन" या "नाट्य" को "अनुकार" समझने की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए, यह मात्र "अनुव्यवसाय" विशेष है। उसे "विकरण" कहते हैं। वे "नाट्य" शब्द नमनार्थक "नट" शब्द से व्युत्पन्न मानते है[3]।

"आचार्य धनञ्जय" ने नाट्य को अवस्था का अनुकरण कहा है[4]। अनुकृति का अर्थ है- अनुकार्य से अनुकर्ता की तादात्म्यस्थिति। वह नाट्य की दृश्यता के कारण उसे "रूपक" स्वीकारते हैं। क्योंकि जिसप्रकार लौकिक वस्तुओं का चाक्षुष ज्ञान उनके रूप के कारण होता है, उसी भाँति नाट्य में

1- त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। - नाट्यशास्त्र 1/107

2- नाट्य शास्त्र 1/1 पर अभिनवभारती।

3- अभिनवभारती, भाग 3, पृष्ठ 80

4- अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। - दशरूपक 1/7

भी दृश्यता होने के कारण वह "रूपक" कहलाता है । आचार्य धनिक ने दशरूपककार की पंक्ति की व्याख्या करते हुए अपनी वृत्ति में स्पष्ट किया है कि काव्य में वर्णित जो धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्थाएँ होती हैं, उनका चतुर्विध अभिनय करके तादात्म्य की उत्पत्ति कर देना ही अनुकृति है, उसे ही नाट्य कहते हैं[1]। इनके मतानुसार "नाट्य", "रूप" या "रूपक" एक ही वस्तु के तीन नाम हैं । नाट्य के लक्षण में उन्होंने अवस्था के अनुकरण पर सर्वाधिक बल दिया है । स्पष्टतः नाट्य में अनुकरण का तत्त्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।

आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र नाट्य को "अभिनेय-काव्य" कहते हैं और वृत्ति भाग में उसका विश्लेषण करते हुए अभिव्यक्त करते हैं कि नाट्य, अभिनय ﴾काव्य﴿ के अर्थात् वाचिक, आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों के द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य है[2] । वे कहते हैं कि नाट्य की रचना हेतु गीत, वाद्य, नृत्य एवं लोक-व्यवहार का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है ।

धनञ्जय-धनिक की भाँति ही शारदातनय "नाट्य" का सामान्य लक्षण अवस्थानुकृति ही मानते हैं, क्योंकि नट में रामादि पात्रों की जो तादात्म्य स्थिति होती है उसी के परिणामस्वरूप उसे "नाट्य" कहा जाता है । चूँकि यह प्रेक्षकों के द्वारा द्रष्टव्य होने के कारण रूपप्रधान

1- दशरूपक 1/7 पर धनिक वृत्ति ।

2- नाट्यदर्पण 1/2 तथा वृत्ति भाग ।

होता है, अतएव इसे "रूपक" कहा गया है । आरोप होने के कारण भी इसे "रूपक" कहते हैं । जैसे मुख पर कमल का आरोप कर दिया जाए, उसी भाँति नाट्य में नट पर रामादि पात्रों का आरोप किया जाता है[1] । नाट्य तत्त्वतः एक कला है । अतः यह आवश्यक है कि "अनुकृति" या "अभिव्यक्ति" हृदयावर्जक हो तथा उसमें कलात्मकता का समाश्रय हो ।

आचार्य विश्वनाथ ने "नाट्य" को दृश्य-काव्य कहा है तथा यह भी कहा है कि स्वरूप में यह अभिनेय होता है, क्योंकि वह दृश्य-काव्य का प्रमुख तत्त्व "अभिनय" को ही मानते हैं । आचार्य वामन रूपक को प्रबन्ध काव्यों में श्रेष्ठ कहते हुए इसकी तुलना "चित्रपट" से करते हैं, क्योंकि चित्रपट की भाँति भाषा-भेदादि स्वरूप को "नाट्य" समाहित कर लेता है, जिसके फलस्वरूप यह "चित्र" कहला सकता है[2] । "सागरनन्दी" ने "भरत" के मत का ही पिष्टपेषण किया है । वे कहते हैं कि नाट्य लोकानुरंजनी कला है तथा सुख-दुःख की अवस्थानुभव से जुड़ा हुआ है । किन्तु "दण्डी" ने "नाट्य" को "मिश्रकाव्य" माना है[3] ।

1- भावप्रकाशन - 7/1,2.

2- काव्यालंकारसूत्रवृत्ति 1/30.

3- काव्यादर्श 1/37.

प्राचीन ग्रीक आचार्य अरस्तू ने भी भरत के ही समान कला को अनुकृति माना है ।

उपर्युक्त समस्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य लोक-जीवन की अवस्थानुकृति ही है । लोक-जीवन का तात्पर्य है कि मानव के सुख दुःख समन्वित विभिन्न प्रकार के शील-स्वभाव-जनित बौद्धिक, मानसिक तथा शारीरिक कार्य-व्यापार । वास्तव में नाट्य चाक्षुष विषय है जो मानव के मानसिक क्रिया-व्यापार पर एक अनुकूलवेदनीय आनन्दानुभूति का प्रभाव डालता है । नाट्य, रूपक-स्वरूप, गीत-वाद्य-प्रधान, अभिनय से परिपुष्ट तथा रसचर्वणात्मक अवस्था से पूर्ण होता है । इसमें एक विशेष प्रकार से संरचित कथा, उसका रंगमंच पर अभिनय, संगीत आदि का योग, उससे प्रेक्षकों को रसानुभूति, विनोद, शान्ति और उपदेश यह सब होना आवश्यक है । अतएव समस्त काव्यों तथा कलाओं में नाटक ही एकमात्र ऐसी विधा है, जो सम्पूर्णता तक गतिमान रहती है ।

" नाट्य का उद्भव और विकास "

काव्य एवं कला मानव को नित-नूतन चिन्तन के आयाम प्रदान करती है । काव्य एवं कला का प्रमुख लक्ष्य उदात्त एवं सुसंस्कृत भावों का प्रस्फुटन है, जो मानव समाज को स्थूल भौतिक आनन्द से सूक्ष्म आत्मिक आनन्द की ओर ले जाती है । आदि काल से काव्य की दो प्रमुख धाराएँ-"दृश्य एवं श्रव्य काव्य" रही हैं जो मानव को अत्यन्त आन्दोलित करती हैं, क्योंकि यह सुख-दुःख का शमन कर उसे (मानव को) शान्ति एवं सुखानुभूति प्रदान करती हैं । इन प्राचीन धाराओं का प्रादुर्भाव कब हुआ, इस पर पर्याप्त मत-वैभिन्य है, जिसका आकलन करने का हम यत्न करेंगे ।

भारतीय वाङ्मय में नाट्य का आविर्भाव कब और कैसे हुआ ? इस विषय पर भारतीय और पाश्चात्त्य मनीषियों में पर्याप्त मतभेद है । सर्वप्रथम हम भारतीय मनीषियों के विचारों का विश्लेषण करेंगे ।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के आविर्भाव से पूर्व ऋग्वैदिक सूक्तों में संवाद पाए जाते थे, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानों ने नाट्य के बीजों का आविर्भाव ऋग्वेद में ढूँढने की चेष्टा की है । ऋग्वैदिक संवाद प्रत्यक्षतः भारतीय परम्परा का पोषण करते हैं और उनसे जुड़े अनेक सूक्त इस प्रकार से व्याख्यात हुए हैं कि यदि उनमें आंशिक रूप से संशोधन कर दिया जाए तो वो पूर्णतया नाटकीय संवादों के अनुरूप सिद्ध होते हैं । उदाहरणार्थ "यम-

---

यमी" "पुरुरवा" - "उर्वशी", "इन्द्र" और "शुक्र", "सरमा" एवं "पणि" के मध्य कथोपकथन के रूप में संवाद प्रयुक्त हुए हैं, जिनके फलस्वरूप यह निष्कर्ष निकाल लेना अत्यन्त सरल है कि नाट्य का आविर्भाव ऋग्वैदिक-काल में हो चुका था ।

नाट्य का आविर्भाव आचार्य भरत द्वारा एक महान् उद्देश्य को लेकर किया गया था, जिसके फलस्वरूप जाति-वर्ण-सम्प्रदाय-गत क्षुद्र जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण भारतीय जनमानस एक-सूत्रबद्ध किया जा सके । इसी के परिणामस्वरूप"आचार्य भरत" ने लोकधर्म एवं नाट्य-धर्म में एक सामंजस्यपूर्ण सन्तुलन स्थापित करते हुए नाट्य-कला को उत्कृष्ट रूप से स्थापित करने की पूर्णरूपेण चेष्टा की थी । नाट्य-शास्त्र में नाट्य का आविर्भाव ईश्वरीय एवं देवी माना गया है , क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों का यदि आकलन किया जाए तो नाट्यशास्त्र की ईश्वरीय और देवी सिद्धान्त की ही पुष्टता अत्यन्त सरलता से हो सकती है । तत्कालीन भारतीय समाज ऐतिहासिक दृष्टि से स्वर्ण-काल था । अतएव मनोरंजन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी ।

तत्कालीन ऐतिहासिक निरूपण से पूर्णतया स्पष्ट है कि वेदों का अध्ययन और अनुशीलन केवल ब्राह्मणों §द्विज§ के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता था तथा अन्य वर्ग के लिए निःश्रेयस् मनोरंजन का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं था । ऐसी विषम परिस्थितियों ने आचार्य भरत के मन पर एक विशिष्ट प्रभाव अंकित किया जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने वेदों के सारत्व

को जो कि वास्तविक रूप से एक व्यावहारिक एवं उत्कृष्ट जीवन निदर्शन का संदेश प्रदान करता है, उसे उन्होंने अपने मेधा-बल पर नाट्य शास्त्र के माध्यम से पिरोहित करने की नूतन चेष्टा की । साथ ही अन्य वर्गों में भी वैदिक तत्त्वों की विशिष्ट छाप पड़ी और जातीय जीवन में एकता की भावना उत्पन्न हुई ।

परवर्ती आचार्यों ने नाट्य के आविर्भाव को आचार्य भरत के ही विचारों का पिष्टपेषण करते हुए निरूपित किया है । आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक के प्रारम्भ में ही नाट्य के दैवी आविर्भाव का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा "शैव शैली" का अनुकरण करते हुए "ताण्डव- नृत्य और "लास्य" को शिव-पार्वती से जोड़ने की चेष्टा की है ।

अभिनयदर्पण, नाटकलक्षणरत्नकोश रसार्णवसुधाकर और भाव-प्रकाशन इत्यादि परवर्ती ग्रन्थों के प्रणेताओं ने भी भरत का अनुकरण किया है । इसलिए कहा जा सकता है कि परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी नवीनता का समावेश नहीं हुआ है ।

आधुनिक भारतीय विद्वानों में आचार्य नन्दिकेश्वर, सीताराम चतुर्वेदी, दशरथ ओझा, डॉ० राम जी पाण्डेय और सुरेन्द्रनाथ दीक्षित आदि सभी विद्वान् भरत सम्मत विचार को ही प्रस्तुत करते दिखलाई पड़ते हैं ।

समस्त विद्वानों ने नाट्य का आविर्भाव वैदिक-काल में ही स्वीकार किया है और नाट्य के विभिन्न तत्वों को वेदों से निःसृत माना है ।

पाश्चात्त्य विद्वानों के संस्कृत-नाट्य के आविर्भाव के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण हैं । कारण, यह है कि नाट्य के जो प्रमुख तत्त्व "संवाद" तथा "अभिनय" नाट्य-शास्त्र के पूर्व ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर मिलते हैं, उसके फलस्वरूप दो प्रकार की विचारधारा आरम्भ से ही परिलक्षित होती है । संवाद-तत्त्व ऋग्वेद का प्रमुख तत्त्व है । जिसके परिणामस्वरूप मैक्समूलर, प्रो० सिल्वां लेवी, श्रेडर और हर्टेल इत्यादि ने नाट्य का आविर्भाव वैदिक सूक्त से ही स्वीकार किया है । संस्कृत-नाट्य के उद्भट विद्वान प्रो० कीथ इन मतों का खण्डन करते हैं । वे ऋग्वेद में आए हुए संवादों को कर्मकाण्डीय एवं पौरोहित्य कर्म में प्रयुक्त होने वाले सम्भाषण स्वीकार करते हैं । इस सम्बन्ध में वह संसार में सभ्यता के आरम्भिक चरणों वाली अनेक जातियों एवं प्रजातियों का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि गीत, नृत्य और नाटक युगों-युगों से उनमें प्रचलित रहे हैं, जिसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा है । फलतः किसी कर्मकाण्डीय या पौरोहित्य कर्म सम्बन्धी संवादों को नाटकीय संवादों की संज्ञा देना प्रो० कीथ नितान्त अनुचित मानते हैं । अतएव यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के आरम्भिक चरणों में नाट्य का कोई समुचित आकार नहीं मिलता । वस्तुतः प्रो० कीथ भी भरत से परवर्ती विद्वानों का ही पिष्टपेषण करते हैं, किसी नवीन सिद्धान्त

को वह प्रस्तुत नहीं कर सके हैं । क्योंकि परवर्ती भारतीय आचार्यों ने भी नाट्य के बीज-रूप में ऋग्वेद या अन्य वेदों से ही नाट्य की उत्पत्ति मानी है । जिसका सीधा तात्पर्य यह नहीं है कि ऋग्वैदिक काल या वैदिक काल में ही नाट्य को कोई आकार या प्रकार मिला होगा । इस मत का इस प्रकार भी खण्डन किया जा सकता है कि नाट्य का आविर्भाव भारतीय परिस्थितियों में हुआ है तो उसमें पूर्व के कुछ संचित विचार, संस्कृति और आचार-व्यवहार तो परवर्ती ग्रन्थों पर पड़ते ही हैं, जिससे यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय मनीषियों द्वारा दिए गए कथन नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में ज्यादा समीचीन प्रतीत होते हैं । प्रो० हिल्ब्रान्ड एवं प्रो० कोनो भी कीथ के मत का खण्डन कुछ इसी प्रकार करते हैं । उनके अनुसार मात्र अभिनय को "नाट्य" संज्ञा नही दी जा सकती वरन् नाट्य में और भी तत्व होतें हैं'।

मैक्डानेल ने नाट्य के आविर्भाव के लिए यह परिकल्पना की है कि नाट्य नृत्य के द्वारा ही उत्पन्न होता है । प्रो० पिशेल भी नाट्य का उद्भव "पुत्तलिका नृत्य" से ही स्वीकार करते हैं । किन्तु इन लोगों के मतों को प्रो० हिल्ब्रान्ड तथा ल्यूडर्स आदि ने खण्डित किया है , क्योंकि नृत्य का आविर्भाव या पुत्तलिका नृत्य का आविर्भाव नाट्य के आविर्भाव के उपरान्त ही हुआ है । इस कारणवश नाट्य का आविर्भाव नृत्य से ग्रहण करना न्यायोचित नहीं प्रतीत होता है ।

पाश्चात्त्य विद्वान् बेवर भारतीय नाट्य का उद्भव यूनानी नाटकों में खोजने का दुराग्रह करते हैं। उनका मत किसी प्रकार से स्वीकृत करने योग्य नहीं है, क्योंकि तत्कालीन भारतीय इतिहास या पाश्चात्त्य इतिहास में नाट्य के आविर्भाव के समय का कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है कि भारतीय सभ्यता और यूरोपीय सभ्यता का मिलाप हो रहा हो। भारतीय सभ्यता वस्तुतः कोई आयातित वस्तु नहीं है और न ही उसमें किसी अन्य संस्कृति के शब्दों का आयात किया गया है। प्रो0 बेवर का यह कथन कि यूनानी शब्द "यवन" से ही संस्कृत का "यवनिका" शब्द उत्पन्न हुआ है, नितान्त सतही प्रतीत होता है तथा यह अवधारणा कि प्राचीन भारतीय नाट्य, यूनानी नाटकों का ऋणी है, अत्यन्त अविश्वसनीय है।

भरत एवं परवर्ती विद्वानों के ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्य का आविर्भाव यद्यपि नितान्त मौलिक एवं नूतन घटना थी तथापि उसके बीज ऋग्वेद एवं अन्य वेदों में उपलब्ध थे। कारण यह है कि भरत जैसा मनीषी इन पूर्ववर्ती महान् ग्रन्थों से अवश्य परिचित हुआ होगा एवं उनकी कुछ विशिष्टताएं नाट्य-शास्त्र के प्रादुर्भाव के समय उसके मनस्-पटल पर निःसन्देह विद्यमान रही होंगी, जिसके फलस्वरूप वैदिक तत्त्वों का समावेश नाट्य-शास्त्र में हुआ है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने यद्यपि भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं किन्तु वे तर्कणा पर पूर्णरूपेण खरे नहीं उतरते। कारण यह है कि पाश्चात्त्य

विद्वान् भारतीय आविष्कारों तथा उसके मूल को सदैव पाश्चात्य में देखने के अभ्यस्त रहे हैं । पाश्चात्य विद्वानों का यह सारहीन उद्देश्य रहा है कि वे भारतीय कला एवं साहित्य का बीज यूनानी दृष्टिकोण से ढूँढ़ते हैं। निःसन्देह भारतीय नाट्य का आविर्भाव वैदिक काल में हुआ था और वैदिक संस्कृति की उस पर अमिट छाप है, जिसे कोई परिवर्तित नहीं कर सकता, क्योंकि नाट्य शास्त्र के सिद्धान्त कहीं से आयातित नहीं हैं ।

"नाट्य की उपादेयता"

नाट्य की उपादेयता उसके प्रदर्शन द्वारा व्युत्पन्न होने वाले आह्लाद और आनन्द से जुड़ी हुई है । नाट्य अभिनेताओं या नटों द्वारा की गई अवस्थानुकृति है, जिसका उद्देश्य मूलतः सहृदयों या सामाजिकों को आनन्द की अनुभूति कराना ही है, जिसके कारण ही नट या अभिनेता अभिनय-क्रिया करता है । अतएव नाट्य द्वारा जनित रस ही सामाजिकों को चरम आनन्द की चर्वणा करता है । नाट्य में कवि, अभिनेता एवं सामाजिक तीनों का ही तादात्म्य होता है । कवि द्वारा सृष्ट कोई भी उदात्त चरित्र वाला कथानक अपनी प्रतिभा के माध्यम से नाट्य-काव्य के रूप में अभिव्यक्त होता है । इसी नाट्य-काव्य को नटों या अभिनेताओं द्वारा कवि के भावनाओं के अनुरूप ही प्रदर्शित किया जाता है, जो कि

दृश्यत्व एवं श्रव्यत्व द्वारा सम्भव होता है । परिणामस्वरूप सामाजिकों को कवि के काव्य से सम्बन्ध स्थापित कर आनन्द एवं आह्लाद की स्थिति की प्रतीति होती है । साथ ही साथ सामाजिक धर्म एवं अधर्म का भी सहजता से अभिज्ञान कर लेता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने लोक-व्यवहार में भी परिवर्तन करता है । नाट्य काव्य का एक विशिष्ट प्रकार भी है, जो रस-कारक होता है क्योंकि नाट्य-शास्त्र में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है, ऐसा कहा गया है । तात्पर्य यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से सामाजिकों के हृदय में स्थायी भाव प्रकट होते हैं । यद्यपि सामाजिकों के हृदय में कुछ भाव पूर्व से ही स्थायी रूप में विद्यमान होते हैं, किन्तु नाट्य के अनुशीलन से उन्हीं भावों का उद्वेलन प्रकट रूप में होने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिकों को रसानुभूति होती है और इसी रसानुभूति के फलस्वरूप अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है ।

हम कह सकते हैं कि नाट्य के अनुशीलन से सामाजिकों के हृदय में एक विशिष्ट प्रभाव अंकित होता है, जिसके फलस्वरूप वे अपने बाह्य एवं आन्तरिक लोक-व्यवहारों में परिवर्तन करते हैं, क्योंकि नाट्य लौकिक क्रिया-व्यापार से सीधे-सीधे धर्मसम्मत रूप से जुड़ा हुआ है । अतएव नाट्य की उपादेयता सामाजिकों को धर्मप्राण बनाने में भी निहित है । नाट्य सामाजिक एकता एवं वेद-व्यवहार की चेतना को भी विकसित करता है, किन्तु मुख्यतः नाट्य की उपादेयता रसाश्रयता में तिरोहित है, जो कि सामाजिकों को आनन्द की चर्वणा कराती है ।

"संस्कृत रूपकों का वर्गीकरण"

समस्त प्रकार के काव्यों में रसात्मकता भिन्न-भिन्न होती है । किन्तु नाट्य एक ऐसा श्रेष्ठ काव्य है, जो दृश्य और श्रव्य मिश्रित होने के कारण विभिन्न रसों का संचार करने में सक्षम है । नाट्य का वास्तविक उत्कर्ष उसके द्वारा सामाजिकों को रस-तत्त्व की आस्वादनीयता या उपादेयता पर ही आश्रित है, क्योंकि रस ही चरम आनन्द है । इसी की आस्वादनीयता के आधार पर आचार्य भरत ने नाट्य-शास्त्र में रूपक के दस भेद बताए हैं - नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग । इन समस्त भेदों में प्रत्येक भेद परस्पर वस्तु, नेता और रस के आधार पर भिन्नता रखते हैं । उदाहरणार्थ किसी एक रूपक का इतिवृत्त, नायक-नायिकाओं का चरित्र एवं उसमें प्रतिपाद्य अन्य तत्त्वों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले रस के परिणामस्वरूप वह अन्य रूपकों से भिन्नता रखता है ।

परवर्ती आचार्य धनञ्जय ने भी भरत की ही विचारधारा का पोषण किया है और रूपक को वस्तु, नेता और रस के आधार पर दस ही भेदों में विभक्त किया है । आचार्य धनिक ने धनञ्जय की कारिकाओं की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि रूपक दो प्रकार का हो सकता है - "शुद्ध" तथा "संकीर्ण" । रसों पर आधृत तथा परस्पर भिन्न प्रकार के "शुद्ध रूपक" कहे जाते हैं तथा नाटिका का समावेश रूपक

के "संकीर्ण" भेद के अन्तर्गत किया जाता है । शुद्ध रूपकों के विभिन्न लक्षणों के मिश्रण के फलीभूत जिस नए रूपक का अविर्भाव होता है, वह संकीर्ण रूपक कहलाता है ।

वस्तु, नेता तथा रस को आधार स्वीकार करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने "साहित्य-दर्पण" में रूपकों के दस भेद किए हैं तथा अठारह उपरूपकों में भी उनका विभाजन किया है । वे नाटिका एवं प्रकरणिका को उपरूपकों के अन्तर्गत मानते हैं । धनञ्जय तथा धनिक ने उपरूपकों के वर्गीकरण का खण्डन किया है । उन्होंने प्रकरणिका को भी रूपक के भेदों के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया है । वस्तुतः उन्होंने प्रकरणिका को प्रकरण के अन्तर्गत ही माना है । धनञ्जय तथा धनिक ने श्रीगदित आदि को नृत्य स्वीकार किया है । वे उसे रूपक के अन्तर्गत नहीं मानते हैं ।

"भावप्रकाशन" के अनुशीलन से पूणतया स्पष्ट है कि शारदातनय ने आचार्य भरत और धनञ्जय दोनों के ही मतों का समन्वय करने का यत्न किया है । भरतानुकूल ही रसात्मकता के गुण के आधार पर नाट्य को दस प्रकार का ही स्वीकार किया है तथा दृश्यता के कारण त्रोटक, श्रीगदित आदि अन्य भावात्मक रूपकों को भी "शारदातनय" रूपक के अन्तर्गत स्वीकारते हुए इनके बीस भेदों का विवरण देते हैं । इस तरह शारदातनय ने रूपकों की संख्या तीस मानी है ।

आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रूपकों के अन्तर्गत "नाटिका" और "प्रकरणिका" को भी स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया है। जिसके फलस्वरूप उनके अनुसार रूपकों की संख्या बारह हो जाती है। "नाटिका" एवं "प्रकरणिका" को उन्होंने "संकीर्ण रूपक" स्वीकारा है तथा उन्होंने तेरह उपरूपकों का भी उल्लेख किया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि रूपकों के वर्गीकरण के विषय में भरत एवं परवर्ती आचार्यों में पर्याप्त मत-वैविध्य है। आचार्य भरत द्वारा-~~प्रकाशित~~ प्रारम्भिक रूपकों का वर्गीकरण ही प्रमुख स्थान रखता है क्योंकि परवर्ती आचार्यों के द्वारा उसी को आधार मानते हुए रूपकों एवं उपरूपकों का वर्गीकरण किया गया है। किसी परवर्ती आचार्य ने भी कोई नया आधार नहीं खोजा है। जो अन्य भेद किए गए हैं वे अधिकतर भरत-सम्मत मत का ही पुनरवलोकन मात्र है, क्योंकि वे भरत द्वारा किए गए दस भेदों के अन्तर्गत ही समाहित हो जाते हैं। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि नाट्य के वर्गीकरण की आधार-शिला जो आचार्य भरत ने रखी थी उसी को आधार मानकर अन्य परवर्ती आचार्यों ने नवीन परम्पराओं का पोषण किया है।

"नाट्य एवं अन्य काव्य-विधाएँ"

मानव द्वारा किसी प्रकार की अभिव्यक्ति साधारणतया "वाक्" रूप में होती है । वाक् रूप अभिव्यक्ति को "वाक्य" कहा जाता है, किन्तु शुद्ध वाक्य में "रस" नहीं होता । वास्तव में कोई भी अभि-व्यक्ति मात्र वाक्य रूप में नहीं हो सकती । बल्कि प्रच्छन्न रूप में उसका सृष्टि-कर्ता कवि होता है । कवि द्वारा सृष्ट वाक्य की अभिव्यक्ति जब काव्य रूप में होती है तो वह रसात्मक हो जाती है, इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को ही "काव्य" माना है । काव्य के इसी स्वरूप के अन्तर्गत समस्त रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं । वस्तु, मूर्ति तथा चित्र जैसी स्थूल कलाओं से लेकर संगीत तथा कविता जैसी सभी कलाएँ रसात्मक अभिव्यक्तियाँ होने के कारण "काव्य" के अन्तर्गत आ जाती हैं । संस्कृत साहित्य में काव्य की विभिन्न विधाएँ हैं ।

नाट्य, काव्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, क्योंकि अन्य काव्यों की अपेक्षा नाट्य सामाजिकों को रसात्मकता के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचाने में सक्षम है । वास्तु,मूर्ति एवं चित्र आदि कलाओं में सामाजिकों को रस की पूर्णता प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव होता है, क्योंकि कला-कार की आत्मा को आत्मसात् कर लेना इतना सरल कार्य नहीं है । इसके विपरीत नाट्य में समस्त तत्त्वों का स्पष्ट प्रकटीकरण होता है, जो कि सरल एवं सहज रूप से समस्त लोगों को ग्राह्य हो सकता है । क्योंकि

कवि द्वारा सृष्ट घटना-क्रिया-व्यापार का पात्रों द्वारा रंगमंच पर वास्तविक प्रदर्शन होता रहता है, जिसके फलस्वरूप कवि के काव्य से सामाजिक सहजता से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । अतएव निर्विवाद रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि नाट्य अन्य काव्यों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट काव्य है ।

महाकाव्यों का प्रणयन उदात्त चरित्र के नायकों के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण करता है । यह सर्गबद्ध होता है, जिसके अन्तर्गत उदात्त नायक के सम्पूर्ण जीवन के घटना-क्रिया-व्यापार की विवेचना तथा अन्य पात्रों से जुड़ी घटनाओं का विस्तृत वर्णन होता है । इसके विपरीत नाट्य जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं से सम्बन्ध रखता है । महाकाव्य का अनुशीलन करने के लिए पाठकों या श्रोताओं को विभिन्न परम्पराओं, अलंकारों रसों तथा साहित्य, कलाओं आदि का ज्ञान नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इनके अभाव में महाकाव्य का अनुशीलन नहीं किया जा सकता । फलतः हम यह कह सकते हैं कि महाकाव्य की अपेक्षा नाट्य-काव्य का अनुशीलन सामाजिकों के लिए अधिक सरस एवं अनुकूलवेदनीय होता है क्योंकि नाट्य-काव्य अत्यन्त सरलता से ग्राह्य होता है ।
काव्य की अन्य धाराएं यथा गीति-काव्य, गद्य-काव्य एवं चम्पू-काव्य आदि भी महाकाव्यों की भाँति सहजता से पाठकों या श्रोताओं को ग्राह्य नहीं होती हैं । महाकाव्य गीति-काव्य, गद्य-काव्य एवं चम्पू-काव्य

आदि विभिन्न धाराओं में दृश्यत्व का तो सर्वथा अभाव होता है, जो कि नाट्य का प्रमुख तत्त्व है । इसी के फलस्वरूप नाट्य, काव्य का समस्त घटना-क्रिया-व्यापार सरलता एवं सहजता से सामाजिकों को रसात्मकता सम्प्रेषित करने में सक्षम होता है । अतएव नाट्य-काव्य इन अन्य समस्त काव्य-विधाओं से विशिष्टता रखता है ।

"नाट्य के तत्त्व"

नाट्य काव्य-विधा का एक व्यापक लक्षणयुक्त काव्य है, जिसमें अनेक तत्त्वों का समावेश होता है । यह तत्त्व स्वतन्त्र रूप से विकसित होते हैं और उनकी सम्पूर्णता नाट्य को पूर्णता प्रदान करती है । नाट्य ज्ञान, सत्, मूल्य एवं विभिन्न शिल्पों और कलाओं का संगम है । ऐसी परिस्थिति में उसमें अनेकों तत्त्वों का योगदान होता है, किन्तु यहाँ पर भरत-सम्मत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा व्याख्यात तत्त्वों की ही प्रमुखता से विवेचना करने की चेष्टा की गई है ।

महर्षि भरत ने नाट्य के तत्त्व रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, वाद्य, गान तथा रंग को माना है ।

1- नाट्य शास्त्र 6/10.

नाट्य-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए परवर्ती आचार्य धनञ्जय ने नाट्य के तीन भेदक तत्त्व माने हैं - वस्तु, नेता एवं रस।[1] किन्तु नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से ये तीन भेदक तत्त्व उपयुक्त नहीं प्रतीत होते हैं, क्योंकि आचार्य भरत अभिनय चातुष्टय को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न प्रकार के तत्त्वों को स्वीकार करते हैं, जिनके अभाव में "धनञ्जय" सम्मत तत्त्व कुछ अधूरे से प्रतीत होते हैं। यद्यपि वस्तु या इतिवृत्त नाट्य का शरीर होता है और रस उसकी आत्मा, किन्तु यदि अन्य तत्त्वों को भी दृष्टिकोण में रखा जाए तो "धनञ्जय" की व्याख्या अधूरी है। "अभिनवगुप्त" ने नाट्य के पाँच तत्त्वों का निरूपण किया है - {आंगिक, वाचिक, आहार्य} अभिनयत्रय, गीत और वाद्य[2]। "उद्भट" भी "अभिनवगुप्त" के मत का ही समर्थन करते हुए पाँच तत्व मानते हैं। आचार्य नन्दिकेश्वर पाठ्य, अभिनय, गीत और रस को नाट्य के तत्त्व स्वीकार करते हैं। शारदातनय रस भाव, अभिनय, नाट्य-प्रयोग तथा संगीत आदि को नाट्य के तत्त्व मानते हैं।

नाट्य के कथानक पर नाटक का सम्पूर्ण भवन खड़ा होता है। कथानक संवाद-सम्प्रेषण पर निर्भर करता है। संवाद-सम्प्रेषण के साथ अभिनय-प्रदर्शन भी होता है, जिसको रंगमंचित करने के लिए विभिन्न प्रकार के रंगनिर्देश भी दिए जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि मूलतः नाट्य के

1- वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः। - दशरूपक 1/11।

2- नाट्यशास्त्र 6/10 पर अभिनवभारती।

तीन ही तत्त्व हैं - कथा, संवाद एवं रंगनिर्देश । कथावस्तु की अनिवार्यता निःसन्देह है, किन्तु इसकी प्रगति के लिए संवाद अत्यन्त आवश्यक हैं । कथानक अभिनय के द्वारा ही गतिमान होता है तथा नाट्य के पात्रों द्वारा संवाद-सम्प्रेषण के माध्यम से कथानक को बढ़ाया जाता है, तो क्या "संवाद" को नाट्य का तत्त्व नहीं स्वीकारा जा सकता ? आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय मानव के लौकिक एवं पारलौकिक चरित्र से सीधे-सीधे जुड़ा होता है । इन अभिनयों के निर्देश का प्राविधान रङ्गनिर्देश के अन्तर्गत समाहित किया जा सकता है, क्योंकि अभिनेता को कथानक के अनुरूप विभिन्न मानसिक एवं शारीरिक संवेतनाओं के द्वारा रंगमंच से जुड़ना पड़ता है, जिसके लिए दिशा-निर्देश दिए जाते हैं । अतएव रङ्गनिर्देश भी नाट्य का तत्त्व माना जा सकता है । पाश्चात्त्य विद्वानों तथा आधुनिक भारतीय विद्वानों ने नाट्य के छः तत्त्वों को प्रमुखतया स्वीकार किया है - कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देशकाल और उद्देश्य । किन्तु हम भरतानुसारी नाट्य के तत्त्वों की ही विवेचन करेंगे, यथा - कथावस्तु, पात्र , अभिनय, रस, रङ्गनिर्देश, नृत्य, एवं सङ्गीत तथा नाट्य-वृत्तियाँ ।

कथावस्तु या इतिवृत्त

कवि या नाट्यसर्जक समाज का एक अभिन्न अंग होता है। समाज में घट रहे घटना-क्रिया-व्यापारों का उस पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सर्जनकर्ता यहीं से कथा के सूत्र ढूँढ कर उसे आदर्शोन्मुख फलगामिता की ओर ले जाता है। कवि का काव्य समाज में प्रचलित लोक-नियम, आचार-व्यवहार और प्रचलित ज्ञान, शिल्प, कला इन सबका एक अनूठा संगम होता है।

कथानक या इतिवृत्त नाट्य का प्रमुखतम तत्त्व है, जिसे अनेक आचार्यों ने नाट्य का शरीर स्वीकार किया है। कथानक का मानव-जीवन से भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। मात्र नाट्य में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण साहित्य में मानव जीवन की व्यापकता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वस्तुतः साहित्य या नाट्य मानव-जीवन से ही तो प्रेरणा लेता है तत्पश्चात् उसी मानव-जीवन को प्रेरित या आदर्शोन्मुख भी करता है। इस प्रकार कथावस्तु एक ओर जीवन की क्रियाशीलता का दूसरा रूप है तो दूसरी ओर चारित्रिक विकास से जुड़ी हुई है।

मानव शरीर की अनेक सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों की भाँति इतिवृत्त के भी अनेक अंग होते हैं। इन्हीं विभिन्न अंगों में कवि की कल्पना यथार्थ रूप में मूर्त होती है। कथा के दो प्रमुखतम तत्त्व होते

हैं - पात्र एवं वस्तु । कतिपय आचार्यों ने कथा के पाँच प्रकार स्वीकार किए हैं - कल्पित, इतिहासात्मक, पौराणिक, अनुश्रुत तथा प्रतीकात्मक, किन्तु आचार्य धनञ्जय इतिवृत्त के तीन भेद करते हैं - प्रख्यात, उत्पाद्य एव मिश्रित ।

"आचार्य"भरत" ने इतिवृत्त के दो प्रमुखतम भेद किए हैं- आधिकारिक तथा प्रासंगिक । आधिकाकि इतिवृत्त फल को उन्मुख करने वाला होता है । जब नाट्य में घटने वाले घटना - क्रिया-व्यापार ज्ञान, मूल्य सत् और पुरूषार्थों को प्राप्त करते हैं या उस कथा का अवसान यदि तत्क्षण होता है तो ऐसी कथा "आधिकारिक" कही जाती है तथा यह आधिकारिक कथा मुख्य क्रिया-व्यापार या मूल कथानक को प्रदर्शित करती है । इसके विपरीत "प्रासंगिक कथावस्तु" गौण कथानक वाली होती है जो आधिकारिक कथावस्तु को अनुकूलवेदनीयता एवं सौन्दर्य प्रदान करती है । इसप्रकार मुख्य नायक पर आधारित इतिवृत्त आधिकारिक होता है तथा सहनायक आदि की गौण कथाएं प्रासंगिक होती हैं । "रामकथा" में"सुग्रीव कथा" का प्रयोजन "बालिवध" तथा राज्य की प्राप्ति है, साथ ही साथ यह कथा आधिकारिक कथानक को फलप्राप्ति में सहायता प्रदान करती है । इसी भाँति "राज्यश्री" हर्ष आदि की कथा आधिकारिक है तथा शान्तिभिक्षु और सुरमा की कथा प्रासंगिक, जो कि आधिकारिक कथा को फलनिर्वहणता में सहायता प्रदान करती है । आचार्य धनञ्जय ने भी इतिवृत्त के दो ही भेद किए हैं - प्रासंगिक एवं आधिकारिक[1] । उन्होने

1- ------------ वस्तु च द्विधा ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्ग प्रासङ्गिकं विदुः ।। दशरूपक ।/।।

प्रासंगिक कथावस्तु को पताका और प्रकरी दो भेद बताए हैं । प्रासंगिक कथावस्तु में घटने वाली कोई घटना जब चमत्कारिक भाव प्रदर्शित करती है एवं अचानक घटकर आधिकारिक कथावस्तु में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन कर देती है तो वहाँ पर "पताकास्थानक" होता है[2]। एक ही स्थान तक सीमित रहने वाले कथानक को "प्रकरी" कहते हैं । रामायण की कथा में सुग्रीव तथा विभीषण की कथाएँ पताकास्थानक हैं, क्योंकि यह दूर तक आधिकारिक कथावस्तु तथा नायक का पोषण करती है तथा इसमें आए हुए छोटे प्रसंग यथा शबरी और जटायु प्रसंग "प्रकरी" हैं ।

भारतीय नाट्य के आदर्शवादी उद्देश्य में वैदिक पुरूषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को मुख्यतया प्रश्रय दिया गया है । नाट्य का उद्देश्य पूर्णतया आदर्शवादी है और आदर्शवादी दृष्टिकोण से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति को सुख का साधन स्वीकारा गया है । यद्यपि विभिन्न आचार्यों में मोक्ष-प्राप्ति के विषय में मतैक्य नहीं है तथापि कुछ मनीषियों ने नाट्य को मोक्ष प्राप्त करने का साधन स्वीकार किया है । इन्हीं पुरूषार्थों को प्राप्त करने हेतु जो यत्न किया जाता है उसे अर्थप्रकृति" कहा जाता है[3]। यह अर्थप्रकृतियाँ पाँच प्रकार की होती हैं- बीज, बिन्दु,

---

1- सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ।। दशरूपक 1/13.

2- प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ।। दशरूपक 1/14.

3- अभिनवभारती 19/20.

पताका, प्रकरी और कार्य । पाँच प्रकार से उपाय करने के फलस्वरूप इनकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं- आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति तथा फलागम[2] । कथावस्तु की इन पाँच अर्थ प्रकृतियों एवं पाँच अवस्थाओं के संलयन से सन्धि का प्रादुर्भाव होता है[3] । सन्धि नाट्य-कथा का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है । किसी रूपक के इतिवृत्त की सुव्यवस्थित योजना सन्धियों के माध्यम से की जाती है । वस्तुतः जब किसी प्रमुख प्रयोजनार्थ छोटे-छोटे घटना-व्यापारों तथा कथांशों के मध्य किसी उच्चतम प्रयोजन हेतु सम्बन्ध स्थापित होता है तो यह सम्बन्ध ही सन्धि के अन्तर्गत आता है । नाट्य-दर्पणकार आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र बीज के फल रूप तक पहुँचने को ही "सन्धि" स्वीकार करते हैं[4] । ये सन्धियाँ पाँच प्रकार की होती हैं - मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण[5] ।

1- बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ।। -दशरूपक 1/18

2- अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ।। - दशरूपक 1/19 ।

3- अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः ।। -दशरूपक 1/22

4- सन्धिर्बीज फलागमः । - नाट्यदर्पण, 1/104

5- अन्तरैकार्थसम्बन्धः संधिरेकान्वये सति ।
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः - दशरूपक 1/23

नाट्यशास्त्रियों द्वारा किए गए कथानक या इतिवृत्त के विभाजन अत्यन्त जटिल एवं गूढ़ हैं, किन्तु यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि नाट्य की सतत प्रवाहशीलता के लिए एवं उसके उद्देश्य - "रसानुभूति" के लिए परम आवश्यक प्रतीत होते हैं । कथावस्तु की अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ एवं सन्धियाँ विभिन्न नाटकीय संघर्ष एवं संयोग तथा वियोग-प्राप्ति के प्रयत्नहेतु किए गए हैं । जिसप्रकार मानव शरीर यदि अंगविहीन हो तो वह निष्प्रयोज्य होता है, उसी भाँति कथावस्तु के विभिन्न अंग या तत्वों के मध्य यह सामंजस्य न हो तो उनकी प्रयोजनता सिद्ध नहीं होती । यद्यपि रचनाकार अपनी कल्पना में स्वतन्त्र होता है, किन्तु यह अपेक्षा की जाती है कि वह नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्त का पूर्णरूपेण पालन करे, क्योंकि कथावस्तु ही वह प्रमुखतम तत्त्व है, जिस पर नाट्य के समस्त घटना-क्रिया-व्यापार घूर्णित होते हैं । यह कथावस्तु दो तरह से प्रस्तुत की जाती है - दृश्य एवं श्रव्य । कथावस्तु में अर्थोपक्षेपकों की भी व्यवस्था रहती है, क्योंकि यह सूचनीय दृश्य रंङ्गमञ्चित नहीं किए जा सकते तथा दृश्य हेतु कथानक को पात्रों के द्वारा गति भी मिलती है ।

पात्र: -

कथावस्तु का रङ्गमञ्च पर वास्तविक निदर्शन पात्रों या अभिनेताओं के द्वारा होता है । पात्र कवि द्वारा सृष्ट कथानक के सारत्व

से तादात्म्य स्थापित करके रङ्गमञ्च पर अभिनय हेतु उपस्थित होता है, क्योंकि नाट्य दृश्यप्रधान है और यह दृश्यप्रधानता मञ्चसज्जा के साथ-साथ पात्रों के ही ऊपर निर्भर करती है । नाट्य के अन्य तत्त्व पात्रों पर ही अधिकतर आश्रित होते प्रतीत होते हैं, क्योंकि मुख्य रूप से पात्रों के द्वारा ही कथानक को गति मिलती है । नाट्य के पात्र उतने ही प्रकार के हो सकते हैं जितने प्रकार के मनुष्य हो सकते हैं । उनकी सीमा का निर्धारण करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि मानव की चित्तवृत्ति में इतनी अधिक विभिन्नता है कि उसको सीमाबद्ध करना अत्यन्त दुरूह कार्य है । पात्र मानव ही नहीं अपितु विभिन्न भूमिकाओं में पशु-पक्षी एवं जड़ पदार्थों के रूप में भी हो सकते हैं, जो नाट्य के कथानक से जुड़े होते हैं । नाट्य-शास्त्र में वर्णित चारों प्रकार का अभिनय नाट्यगत पात्रों के साथ पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित करके रङ्गमंचित किया जाता है । हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि पात्र मानव-जीवन की शाश्वत-धारा के प्रतीक होते हैं और उनमें शील-स्वभाव, आचार-विचार, आहार-व्यवहार तथा अवस्थाओं एवं प्रकृति की विभिन्नता एवं विविधता के साथ ही इतिवृत्त को निरन्तर गति मिलती है । रूप और रस की रङ्गभूमि वास्तव में पात्र ही होते हैं जो नाट्य को जीवन्तता प्रदान करते हैं ।

नाट्य में पात्रों का विधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा उनकी प्रस्तुतीकरण एक विशिष्ट प्रकार की कला है, जिसके लिए नाट्य-शास्त्र में अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । यह विधान कवि या नाट्य-

---

प्रयोक्ता एवं सहृदय सामाजिकों के लिए अत्यन्त समीचीन है । शास्त्रीय - ग्रन्थों में पात्रों का विधान् पूर्णरूपेण भरत-सम्मत ही सर्वत्र परिलक्षित होता है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने भरत-सम्मत ही विचारों का अनुगमन किया है ।

पात्र के अन्तर्गत नायक एवं नायिका का विशद विवेचन नाट्य-शास्त्र एवं परवर्ती शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है । नायक ही नाट्य का नेता होता है, जो कथावस्तु को फलागम तक पहुँचाता है । प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में यह परिकल्पना की गई है कि नायक सर्वगुण-सम्पन्न होता है तथा उनमें अनेकों सद्गुण होते हैं । यथा-विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर, प्रिय बोलने वाला, सबको प्रसन्न करने वाला, पवित्र मन वाला, कुलीन, स्थिर, युवावस्था वाला तथा बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला एवं मान से युक्त होता है, जिसे शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्र-ज्ञाता तथा धार्मिक होना चाहिए[1]। समस्त प्रकार के नायक धैर्यवान् होते हैं, किन्तु उनके चार भेद किए गए हैं- धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत[2] । नायक का प्रतिपक्षी प्रतिनायक होता है तथा यह नायक के विपरीत गुणों वाला होता है । नाट्य में नायक के कुछ साथी और सहायक भी होते हैं, जो इतिवृत्त को आगे भी बढ़ाते हैं और नायक की सहायता भी करते हैं । यह सहनायक कई प्रकार के होते हैं, यथा-विट, चेट, विदूषक, मालाकार, रजक,

---

1- दशरूपक - 1/1,2

2- भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

- दशरूपक 2/3

तमोली, गन्धी इत्यादि । कतिपय नाट्यशास्त्रियों ने "पताका नायकों" को "पीठमर्द-नायक" की संज्ञा दी है । इसमें मुख्यनायक के अपेक्षाकृत अल्पविकसित गुण होते हैं ।

नाट्य के रचना-संविधान में नायक की भाँति नायिका की भूमिका भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है तथा "आचार्य भरत" ने इनके भेदों का निरूपण नायकों के सम्बन्धों के आधार पर किया है, किन्तु परवर्ती आचार्य भरतसम्मत मान्यता का खण्डन करते है तथा नायिकाओं के दो अन्य प्रकार भी स्वीकार करते हैं, जिसके आधार पर नायिका का वर्गीकरण किया जा सकता है । प्रथमतः, नायिका की अवस्था एवं नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर नायिका की प्रतिक्रिया । द्वितीयतः, नायिका की प्रेमगत दशा का आधार लिया जाता है । इनका विस्तृत विवेचन हम अपने अगले अध्यायों में करेंगे ।

निःसन्देह पात्र नाट्य रूपी रथ के सारथी हैं, क्योंकि नाट्य की दृश्यधर्मिता का केन्द्रबिन्दु भी पात्र एवं इसकी अभिनय-चेष्टाएँ होती हैं । विभिन्न भावों और अभिनव चेष्टाओं का दैवी एवं मानवीय चरित्र, लौकिक-पारलौकिक अनेकों अवस्थाओं की अनुकृति हेतु ही नाट्य का सर्जन होता है । नाटकीय-संवाद नाट्य-रचना के प्रमुख आधार हैं

तो पात्र-संवाद के माध्यम हैं । पात्रों की भूमिका नाट्य में अपरिहार्य है । उसके बिना नाट्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती । पात्र द्वारा किया गया अभिनय दृश्यात्मक व्यापार है । अस्तु, अब हम अभिनय की विवेचना करेंगे ।

अभिनय :-

अभिनय नाट्य का प्रमुखतम तत्त्व है । नाट्य के अन्य तत्त्व अभिनय पर ही केन्द्रित होते हैं । नाट्य शास्त्र में अभिनय को अत्यन्त व्यापक प्रश्रय दिया गया है । रंगमंच की सजावट, वेश-विन्यास, विभिन्न अंगो-उपांगों द्वारा भावों तथा मनोभावों का चित्रण आदि सभी कुछ "अभिनय" के अन्तर्गत आते हैं । वस्तुतः "रूपक" या "नाट्य" श्रव्य काव्य के साथ-साथ दृश्य-काव्य भी हैं और उसकी दृश्यात्मकता पूर्ण-रूपेण अभिनय-आश्रित है, क्योंकि किसी दृश्य की सार्थकता सिद्ध करने के लिए उसके अनुकार्य की पूर्ण अनुकृति का आधार चाहिए । किसी भी पूर्वघटित या कल्पित आदर्श चरित्रों का अनुकरण जब रंगमंच पर पात्रों द्वारा कराया जाता है, तब उसे "अभिनय" की संज्ञा दी जाती है । "अभिनय" पूर्वघटित घटना, क्रियाओं और प्रक्रियाओं का वर्तमान में देशकाल के अनुरूप प्रदर्शन है । अतएव हम कह सकते हैं कि कवि द्वारा सर्जित काव्य नाट्य रूप में "अभिनय" के माध्यम से ही परिवर्तित होता है, जिसके फलस्वरूप नाट्य के प्राणभूत तत्त्व "रस" का उत्कर्ष होता है ।

"भरत" ने "अभिनय" का अर्थ दो प्रकार से बताया है - धात्वर्थ के आधार पर तथा गुण के आधार पर । प्रापणार्थक "णीञ्" धातु में अभि" उपसर्ग लगाकर "अभिनय" रूप सिद्ध होता है [1] । पात्रों की वेश-भूषा या मंचसज्जा को ही "अभिनय" नहीं कहते वरन् पात्रों द्वारा संवाद-सम्प्रेषण अंगों की विभिन्न भाव-भंगिमाओं का सजीवता से रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण को "अभिनय" कहते हैं । आचार्य भरत ने रंगमंच की आवश्यकताओं का आकलन करते हुए अभिनय के चार भेद किए हैं - आंगिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य [2] । प्राचीन् काल में "आंगिक अभिनय" को प्रमुखता दी जाती थी । यह अंगों, उपांगों तथा प्रत्यांगों की चेष्टाओं द्वारा सम्पन्न होता था । इसके अन्तर्गत शरीर के विभिन्न अंग यथा-मुख, हस्त, कटि, पार्श्व तथा पाद आदि अंगों के अभिनय सम्मिलित किए गए हैं, जिनका नाट्य-शास्त्र में अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्मतम विवेचन मिलता है । भरत ने "वाचिक अभिनय" को "नाट्य का शरीर" कहा है । वास्तव में इसे अत्यन्त सावधानी से अभिनीत करना चाहिए [3] ।

1- अभीत्युपसर्गः । णीञित्ययं धातुप्रापणार्थः अस्याभिनीत्येवं व्यवस्थितस्य एरजित्यच्प्रत्ययान्तस्याभिनय इति रूपं सिद्धम् । एतच्च धात्वर्थवचनेनावधार्यम् ।
- नाट्यशास्त्र 8/5 के बाद गद्य ।

2- आङ्गिको वाचिकश्चैव ह्याहार्यः सात्त्विकस्तथा ।
ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः ।। -नाट्य शास्त्र 8/9

3- वाचि यत्नस्तु कर्तव्यः नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता ।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यंजयन्ति हि ।। - नाट्य शास्त्र 14/2

"वाचिक अभिनय" पात्र के मानस-व्यापार का वह उद्गार है जो कि पूर्व-घटित या पूर्वकल्पित चरित्र से देशकाल एवं परिस्थितिजन्य अनुकूलता रखता है, एवं सामंजस्यपूर्ण भाव-सम्प्रेषण में सक्षम होता है । "आहार्य अभिनय" का महत्त्व भी नाट्य-प्रयोग में अत्यन्त आवश्यक है । पात्रों का नेपथ्य विधान, उनके अभिनय-कार्य के सम्पादन में बहुत कुछ सहायक होता है । भरत ने इसे आहार्य अभिनय कहा है और उनकी दृष्टि से "आहार्य अभिनय" के बिना नाट्य अपूर्ण होता है । अतएव आहार्य अभिनय नितान्त आवश्यक तत्त्व है, जो कि नाट्य-प्रयोग को परिपुष्ट करता है[1]। आंगिक, वाचिक तथा आहार्य इन तीनों अभिनयों में सात्त्विक अभिनय की ही प्रधानता रहती है, क्योंकि सत्त्व अथवा अन्तर्मन की दशा का निदर्शन वाणी और अंगों की विभिन्न मुद्राओं के द्वारा ही होता है । "सात्त्विक अभिनय" वास्तव में मनुष्य में उठने वाले उन आन्तरिक भावों से जुड़ा होता है जो उसे आदर्शोन्मुख प्रेरणा देते हैं । इसी कारणवश संस्कृत-नाट्य प्राचीन काल से आधुनिक काल तक सात्त्विक अभिनय की प्रधानता के कारण आदर्शवादी कहे जाते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य को प्रदर्शित करने के लिए अभिनय ही वह प्रबल कारक है जो कार्य रूप में रंगमंच पर घटता है और नाट्य को सजीवता प्रदान करता है । तात्पर्य यह है कि "अभिनय" अपने व्यापक अर्थों में नाट्य का क्रियात्मक विधान है, क्योंकि नाट्य की प्रतिष्ठा अभिनय ही कर सकता है[2]। अतएव नाट्य एवं अभिनय एक

1- यस्माद् प्रयोगः सर्वोऽयमाहार्याभिनये स्थितिः ।

- नाट्य शास्त्र 21/1

2- नाट्य शास्त्र 8/7

दूसरे के पूरक तत्त्व हैं तथा एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से जुड़े रहते हैं ।

रस -

"रस" भारतीय साहित्यिक वाङ्मय में अत्यन्त प्राचीनतम है । इसका आविर्भाव कब हुआ ? इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैदिक साहित्य में भी रस-निष्पत्ति के विषय में प्रचुर साक्ष्य उपलब्ध होता है, किन्तु उसका पूर्ण प्रस्फुरण तथा विस्तारण भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में किया है । रस क्या है ? यह अत्यन्त जटिल दार्शनिक गूढ़ता का प्रश्न है । किन्तु आचार्य भरत ने काव्य से व्युत्पन्न होने वाले जिस "रस" की विशद विवेचना की है, हम उसी पर विचार करेंगे ।

भारतीय नाट्य-सिद्धान्त में "रस" अपना विशिष्ट स्थान रखता है, क्योंकि सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्रीय-साहित्य का चरम उद्देश्य सुमनस सामाजिकों को रस की चर्वणा कराना ही है । यह रस वास्तव में मानव-जीवन के लौकिक और पारलौकिक जीवन- व्यापार से अत्यन्त निकटता से जुड़ा हुआ है । नाट्य प्रयोग से व्युत्पन्न "रस" का उद्रेक सामाजिकों के हृदय में ब्रह्मानन्द- सदृश है । अतएव "रस" ही "नाट्य की आत्मा" कहा जा सकता है ।

नाट्य दृश्यात्मक और श्रव्यात्मक व्यापार है । दृश्यात्मक व्यापार का प्रमुख तत्त्व "अभिनय" नाट्य में उत्कृष्ट स्थान रखता है । यह

अभिनय मात्र स्थूल अनुकरण ही नहीं, वरन् पूर्वघटित घटना-क्रिया-व्यापारों का वास्तविक पुनःप्रदर्शन है तथा यही अभिनय "रस" के उन्मेष में एक महत्त्व-पूर्ण सहायक तत्त्व होता है । यद्यपि अभिनय एक लौकिक व्यवहार का अनुकरण होता है तथापि उससे व्युत्पन्न "रस" अलौकिक है । आचार्य भरत कहते हैं कि नाट्य में शब्द-छन्द, लक्षण, अलंकार, गुण-दोष आदि तथा आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य सबके समन्वय से रसोद्बोध होता है । उनकी मान्यता है कि रस की जो अनुभूति है वह अलौकिक है । वह इन्द्रियजनित नहीं है अपितु मानस-व्यापार है । तात्पर्य यह है कि रस का आस्वादन मन से होता है तथा मन अनेक भावों के उत्पादन का केन्द्र है । आचार्य भरत ने नाट्य-शास्त्रमें स्थायी-भावों को रस के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में कहा है कि - "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पतिः[1]" । अर्थात् रस उत्पन्न करने के लिए उचित वातावरण की उत्पत्ति तथा विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग की आवश्यकता होती है । वास्तव में काव्य ऐसे बाह्य विभावों की सृष्टि करता है जो काव्यास्वादक के हृदय में एक प्रमुख भाव का उद्रेक तथा उद्दीपन करते हैं तथा अन्ततोगत्वा रस के रूप में परिणत हो जाते हैं । नाट्य में विभावों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है । जिसके परिणामस्वरूप भावों का विभाजन तथा पोषण अत्यन्त सरल है । यथा-एक भाव को उद्दीप्त तथा पुष्ट करने के लिए वाद्य, गान, अभिनय, नृत्य इत्यादि नाट्य के सभी अंग उसी के

1- नाट्य शास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ 274 प्रथम संस्करण, 1964
प्रकाशन-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना

अनुकूल विभाव उत्पन्न करने की उत्तम चेष्टा करते हैं । वास्तव में नाट्य के रूपकत्व द्वारा लोक-चरित्र का प्रदर्शन करने के लिए जिस कथानक, अवस्था या घटना-क्रम का आलम्बन किया जाता है, वह उस "भाव" विशेष को मूर्त्त तथा जीवित रूप में हमारे समक्ष खड़ा कर देता है जिससे वह साधारण हृदय के लिए भी ग्राह्य हो सकता है । अतएव हम यह कह सकते हैं कि नाट्य रस के आविर्भाव- काल में सामाजिक को साधारणीकृत विभावादि के साथ तदाकारिता स्थापिता करके लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति का आस्वादन कराता है ।

नाट्य में विभावों का आलम्बन और उद्दीपन दो तरह से होता है । प्रथमतः - सहृदय प्रेक्षकों को रत्यादि भावों का आस्वाद नायक और नायिका के आलम्बन विभाव के बिना सम्भव नहीं है तथा द्वितीयतः - रस का उद्दीपन करने वाली विभिन्न आलम्बन चेष्टाएं उद्दीपन विभाव उत्पन्न करती हैं । रस और भाव में साध्य और साधन का सम्बन्ध है । यदि नाट्य का साध्य "रस" है तो भाव उसका साधन । आचार्य भरत ने भाव की संख्या उन्चास बताई है ।

रस की निष्पत्ति "ज्ञान" और "क्रिया" के समन्वय के फलस्वरूप होती है । "ज्ञान" और"क्रिया" ये दोनों तत्त्व मानव-जीवन से नितान्त अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं । यद्यपि यह अपना-अपना स्वतन्त्र

अस्तित्व रखते हैं तथापि इनका सापेक्षिक महत्त्व भी है । नाट्य के उत्कर्ष से जनित ज्ञान रस की प्राभावोत्पादकता का अकेला उत्तरदायी नहीं होता, बल्कि साथ में अभिनय-क्रिया-रूपी व्यवहार के सम्मिलन से भी रस का आविर्भाव होता है । अस्तु, कवि द्वारा सृष्ट आदर्शवादी विचार यदि ज्ञान का सम्प्रेषण करते हैं तो अभिनय द्वारा प्रदर्शित नट-धर्मी क्रिया-व्यापार भी ज्ञानात्मक अवस्था का तिरोभाव नहीं करते, बल्कि अपने अस्तित्व को क्रियात्मकता में रूपान्तरित कर देते हैं । तात्पर्य यह है कि इस जटिल अवस्था में "मूर्त ज्ञान" "मूर्त क्रिया-रूप" धारण करके फलोत्कर्ष स्वरूप "रस" के रूप में सामाजिकों के समक्ष उपस्थित होता है । अतएव हम यह कह सकते हैं कि "ज्ञान" और "अभिनय" दोनों के फलीभूत होकर ही रस की निष्पत्ति होती है और संस्कृत-नाट्य में रस- सिद्धान्त का महत्त्व अक्षुण्ण है ।

रङ्गनिर्देश -

नाट्य में अभिनय के लिए दिया गया निर्देश ही रङ्गनिर्देश कहलाता है । यद्यपि प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में रङ्गनिर्देश के विषय में यथेष्ट सामग्री उपलब्ध नहीं है, तथापि संस्कृत-नाटकों में दिए गए रङ्गनिर्देश इस विषय में पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराते हैं । "रङ्गनिर्देश अभिनय, रङ्ग-व्यवस्था, प्रकाशव्यवस्था, सङ्गीतव्यवस्था तथा नेपथ्यव्यवस्था के लिए होता है"[1]।

1- अभिनवनाट्यशास्त्र,डॉ सीताराम चतुर्वेदी । पृष्ठ 468,तृतीय संस्करण ।

नाट्य - संरचना की मूलाधार तो कथा होती है जिसका मंचन पात्र और घटना-क्रिया-व्यापारों द्वारा होता है, किन्तु रङ्गनिर्देश एक ऐसा अनूठा तत्व है जिसके आधार पर नाट्यकी ग्राह्यता अपेक्षित रूप से बढ़ जाती है, क्योंकि रचनाकार या कवि द्वारा दिए गए दिशा- निर्देश जटिलतम स्थितियों के लिए होते हैं, जिनका रङ्गमंचन सरलता से नहीं किया जा सकता, उसके लिए कवि इस प्रकार के दिशा-निर्देश देता है कि कल्पनीय या यथार्थात्मक दृश्यों की सौन्दर्य-संकल्पना सामाजिकों को अन्ततोगत्वा ग्राह्य हो सके ।

अभिनय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, क्योंकि दृश्यत्व के लिए दृश्य-विधान गति, रस तथा अन्य रङ्गमञ्चीय तत्त्व आवश्यक होते है, जिनके लिए कवि कुछ विशिष्ट निर्देश देता है । उदाहरणस्वरूप हम अर्थोपक्षेपकों को लें तो ज्ञात होगा कि कम पात्रों, सुगठित संवादों एवं अल्पकालीन भाव-भंगिमाओं द्वारा इनका अभिनय किया जा सकता है । यदि इन अर्थोपक्षेपकों के प्रदर्शन हेतु कवि द्वारा दिशा-निर्देश न दिया जाए तो रङ्गमंचन करना अत्यन्त कठिन हो जाए । जटिल क्रियाओं वाले अभिनय हेतु कवि द्वारा रङ्गनिर्देश दिए जाते हैं, क्योंकि अभिनय के क्षेत्र में बहुत से असम्भाव्य दृश्य होते हैं, जिनके प्रदर्शन हेतु भावों एवं उनमें घटित होने वाली चेष्टाओं का काल्पनिक प्रदर्शन किया जाता है । यद्यपि यह काल्पनिक प्रदर्शन होता है तथापि यह काल्पनिक प्रदर्शन सामाजिकों को यथार्थ

रूप में ग्राह्य होता है । यथा- "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" नाटक में दुष्यन्त जिस हरिण का पीछा कर रहा है वह वास्तव में यथार्थ रूप नहीं होता, अपितु भूमिका करने वाला नट अपनी भाव-भंगिमाओं द्वारा ऐसी चेष्टा करता है मानो वह मृग बनकर स्वयं पर प्रहार सहन कर रहा हो । इसी भाँति फूल आदि चुनने की घटनाएं केवल चेष्टा मात्र होती हैं । वास्तव में यह प्रक्रिया सामाजिकों को सरसता के साथ नाट्य की पूर्णरूपेण ग्राह्यता हेतु अपनायी जाती है ।

अभिनेताओं द्वारा धारण की जाने योग्य वेश-भूषा हेतु कवि या सूत्रधार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि वह रंगों के अनुरूप है अथवा नहीं, क्योंकि रंग ही विभिन्न रसों का उत्कर्ष करते हैं, वेशभूषा के अन्तर्गत नायकों द्वारा किया गया वेश-विन्यास सामाजिकों को प्रमुख रूप से प्रभावित करता है, क्योंकि आंगिक अभिनय में वेश-विन्यास का अत्यन्त महत्त्व है ।

रङ्गमञ्च पर प्रकाश-व्यवस्था किस प्रकार की होनी चाहिए ? इस विषय पर भी कवि द्वारा बहुत गम्भीरतापूर्वक नाट्य में या तो निर्देश दिए जाते हैं या सूत्रधार के अनुभवी, आलोचनाशील या गुणग्राही होने पर भी यह प्रकाश-व्यवस्था निर्भर करती है । रंगों का उद्दीपन मञ्च पर प्रकाश-व्यवस्था के आधार पर ही निर्भर करता है, क्योंकि प्रकाश की तीव्रता या मध्यमता या अतिमन्दता रंगों में परिवर्तन कर देती है ।

अतएव यह अपेक्षा की जाती है कि प्रकाश-व्यवस्था नाट्य के अनुरूप होनी चाहिए । यद्यपि प्राचीन नाट्यशास्त्रकारों ने प्रकाशव्यवस्था हेतु कोई विशेष शास्त्रीय नियम नहीं बताए हैं, क्योंकि तत्कालीन नाट्य-व्यवस्था अत्यन्त सीमित क्षेत्र तक थी किन्तु आधुनिक युग में प्रकाश-व्यवस्था का अत्यन्त महत्व है । प्राचीन काल में नाट्य सदैव रात्रिकालीन होते थे, उस समय प्रकाश-व्यवस्था समुचित रूप से नहीं हो पाती थी, किन्तु आधुनिक युग में प्रकाश-व्यवस्था का अत्यन्त उत्कृष्टता से उपयोग किया जा सकता है और वह पात्रों की अभिनय मुद्राओं को स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर कराने में समर्थ होती है ।

नेपथ्य-विधान हेतु भी शास्त्रीय मत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु नाट्यकारों द्वारा व्याख्यात आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नेपथ्य-विधान के अनेकशः नियम इन्हीं सूत्रों में बिखरे पड़े हैं । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि रङ्गनिर्देश हेतु शास्त्रकार तो मौन हैं किन्तु नाट्यकारों द्वारा किया गया प्रयास अत्यन्त सराहनीय तथा श्लाघनीय है, क्योंकि उन्होंने अपने नाटकों में रङ्गनिर्देश जैसे अनुच्छिष्ट तत्त्व को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया जो नाट्य के लिए अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है ।

नृत्य, गीत और वाद्य -

पाश्चात्त्य और कतिपय भारतीय विद्वानों ने नाट्य का उद्भव धार्मिक नृत्य से स्वीकार किया है । वास्तव में वे प्राचीन काल में आंगिक अभिनय की प्रमुखता के कारणवश ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं, किन्तु यह मत अत्यन्त समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि परवर्ती नाट्य-प्रयोगों से ऐसा सिद्ध नहीं होता कि नृत्य से ही नाट्य का उद्भव हुआ होगा । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नृत्य और गीत दोनों के समन्वय से रस का उद्रेक अत्यन्त सरलता से होता है । नृत्य, गीत और वाद्य की भूमिका संस्कृत-नाटकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । फिर भी प्राचीन एवं परवर्ती शास्त्रकारों ने इसे कोई विशेष महत्त्व नहीं प्रदान किया है । नाट्य-शास्त्र से प्राप्त विषय-सामग्री से नाट्य में नृत्य का प्रयोग भगवान शिव की प्रेरणा से हुआ तथा लास्य का प्रणयन पार्वती द्वारा हुआ । "नाट्य-शास्त्र" में इन्हीं दो (ताण्डव तथा लास्य) प्रकार के नृत्यों का प्रयोग हुआ है ।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत-नाट्यों में नृत्य का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है । यद्यपि संस्कृत-नाटकों में नृत्य की अपरिहार्यता नहीं है, तथापि नृत्य और गीत का स्वतन्त्रतापूर्वक ही विकास हुआ है और संस्कृत-नाटकों में एक तत्त्व के रूप में अपनाया गया है ।

"वाद्य" और "गीत" दोनों ही तत्त्व नाट्य में रसोत्पादकता में सहायक हैं तथा इनका प्रयोग अत्यन्त प्राचीन भी है । सङ्गीत का स्वर-

---

माधुर्य अत्यन्त कर्णप्रिय होता है, जो मानव-मन को आह्लादित करता है और यही आह्लाद रस- निष्पन्नता में सहायता प्रदान करता है । भारतीय ऋतुओं के अनुरूप सङ्गीत आदि का भी प्रयोग किन्हीं-किन्हीं संस्कृत नाटकों में होता है । तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न रागों की प्रभावोत्पादकता भिन्न-भिन्न ऋतुओं और समय में भिन्न-भिन्न होती है । यदि इन दोनों का सामंजस्य कर लिया जाए तो अत्यन्त उत्तम फल मिलता है । कभी-कभी नाट्यकारों द्वारा भी विशिष्ट भावों और रागात्मक स्थितियों के लिए आलंकारिक भाषा में विशिष्ट छन्दों की संरचना अपने नाट्य में प्रस्तुत की गई है । आज आधुनिक नाटकों में नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने हेतु तथा संवादों की सम्प्रेषणीयता को बढ़ाने हेतु सङ्गीत का प्रयोग अत्यन्त सामान्य रूप से प्रचलित हो गया है, क्योंकि रङ्गमञ्च पर अभिनय के साथ-साथ संवाद-सम्प्रेषण के समय विभिन्न ध्वनियों का आलम्बन किया जाता है । जिसके फलस्वरूप विभिन्न भावों का ज्ञान होता है । अतएव "सङ्गीत" को भी नाट्य का एक अभिन्न एवं आवश्यक तत्त्व स्वीकारा जा सकता है ।

नाट्य - वृत्तियाँ -

वृत्तियाँ नाट्य-प्रयोग में एक असाधारण भूमिका निभाती हैं । भरत ने वृत्तियों को "नाट्य की जननी" स्वीकार किया है[1], क्योंकि "वृत्ति" अपने मौलिक गुणों के कारण नाट्य कला में परिपूर्णता लाने का सामर्थ्य रखती हैं ।

1- नाट्यशास्त्र, अध्याय 22, प्रकाशन-चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी

कथावस्तु, पात्र, अभिनय और रस मात्र नाटक के संघटक तत्त्वों का निदर्शन ही नहीं, अपितु नायक-नायिका के व्यापार-विशेष को भी रंगमञ्चित किया जाता है। वस्तुत: नाट्य की रचना-प्रकृति या रचना- शैली को ही "नाट्य की वृत्ति" कहा जा सकता है। क्योंकि अन्य सभी तत्त्व यहीं पर आकर केन्द्रित होते हैं। "आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र" ने पुरुषार्थ के साधक नाना प्रकार के व्यापार को "वृत्ति" कहा है[1]। नायक, नायिका, प्रतिनायक एवं अन्य पात्रों का आंगिक, वाचिक और मानसिक-व्यापार "वृत्ति" के अन्तर्गत आता है और वृत्ति से ही रसोद्रेक होता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इन समस्त मानसिक चेष्टाओं को लौकिक-जगत् में व्याप्त बताया है। फलत: हम कह सकते हैं कि "वृत्ति" नाट्य की उपादेयता को सिद्ध करने हेतु एक आवश्यक तत्त्व भी है। "भरत" ने वृत्तियों को चार प्रकार की स्वीकार किया है - कैशिकी, भारती, सात्वती तथा आरभटी। "भारती वृत्ति" वाक्-प्रधान होती है, संस्कृत भाषा से परिपूर्ण होती है तथा पुरुष पात्रों द्वारा ही प्रयोग की जा सकती है। स्त्रीपात्रों द्वारा इसका प्रयोग वर्जित है। इसके चार अंग होते हैं - प्रारोचना, मुख, वीथी और प्रहसन। "सात्वती वृत्ति" सत्व-गुणों से युक्त होती है। यह हर्ष-युक्त तथा शोक-भाव-विहीन होती है। इसमें वीर, अद्भुत एवं रौद्र रसों से युक्त विशेषत: मानसिक-व्यापार ही प्रस्तुत किए जाते हैं। इसके भी चार ही अंग हैं - उत्थापक, परिवर्तक, संलापक और संलाप। कैशिकी एवं आरभटी दोनों

1- नाट्य दर्पण 3/103 की वृत्ति।

प्रकार की वृत्तियाँ विशेषत: आंगिक-व्यापार रूप होती हैं। "कैशिकी वृत्ति" नेपथ्य, वेशभूषा से चित्र-विचित्र, स्त्री-पुरुष पात्रों से युक्त तथा नृत्य, गीत आदि से परिपूर्ण होती है और इसके भी चार अंग किए गए हैं- नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ। वस्तुत: कैशिकी वृत्ति का प्रयोग श्रृंगार रस में होता है। आरभटी वृत्ति वीर व्यक्तियों द्वारा प्रकट किया गया रौद्र रूप, तर्कीय (तर्क-पूर्ण) भाषण से युक्त तथा नाना प्रकार के युद्ध आदि से युक्त होती है। इस वृत्ति के द्वारा रौद्र, बीभत्स एवं भयानक रस उत्पन्न होते हैं। इसके भी चार अंग हैं - संक्षिप्तक, अवपात, वस्तूत्थापन तथा संफेट। "आचार्य धनञ्जय" ने इन वृत्ति-तत्त्वों का विवेचन "अभिनय-काव्य" के सन्दर्भ में किया है। वास्तव में नायक और नायिका के प्रत्यक्ष व्यापारों से तीन वृत्तियों का उद्भव होता है। यथा- कैशिकी, आरभटी और सात्त्वती। भारती वृत्ति का प्रयोग नटाश्रित वाक्-व्यापार के अन्तर्गत होता है[1]। आचार्य अभिनवगुप्त ने चारों वृत्तियों की स्वरूप-व्याख्या इस प्रकार से की है -

> पाठ्यप्रधाना भारती, अभिनयप्रधाना सात्त्वती, अनुभावा-
> द्यवेशमयरसप्रधानारभटी, गीतवाद्योपरंजकप्रधाना कैशिकीति[2]।

1- दशरूपक 2/47

2- अभिनवभारती 20/23

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि आचार्य भरत ने एवं परवर्ती आचार्यों ने वृत्ति-हेतु अत्यन्त वैज्ञानिक एवं समीचीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है, क्योंकि नाट्य-शास्त्र द्वारा दिया गया वृत्तिसम्बन्धी दिशा-निर्देश, मानव-जीवन की अन्तरंगता, अनेकता तथा बहिरंगता विभिन्न रूपों के द्वारा नाट्य-कला के रूप में पुनर्दर्शित की जा सकती है, तथा लोगों के हृदय में भावनात्मक अनेकता में एकता स्थापित करने में वृत्तियाँ पूर्णरूपेण सहायक होती हैं, क्योंकि वृत्तियों द्वारा उद्भूत समस्त प्रकार के रसों का उद्बोधन सरलता और सहजता से होता है, जिसके फलस्वरूप नाट्य की उपादेयता लौकिक जीवन के लिए उत्कृष्टता के साथ सिद्ध की जा सकती है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि वृत्ति नाट्य की जीवनदायिनी शक्ति है।

निष्कर्ष -

साहित्य मानव-जीवन के विभिन्न भाव, संवेदनाओं एवं चिन्तन से जुड़ा हुआ है। साहित्य का प्रमुख लक्ष्य समाज में उदात्त-भावों का आविर्भाव करना तथा उसे सुसंस्कृत और सभ्यता के उच्चतम शिखर तक ले जाना ही रहा है। साहित्य की एक विलक्षण विधा नाट्य का आविर्भाव एक क्रान्तिकारी घटना थी, जिसका लक्ष्य पारमार्थिक अनुभूति के साथ-साथ आनन्दानुभूति भी प्रदान करना था। भारतीय वाङ्मय में यह आनन्दानुभूति

प्रदान करने वाली विशिष्ट कड़ी "दृश्य" और "श्रव्य" के सामंजस्य से व्युत्पन्न हुई, जिसे "नाट्य" की संज्ञा प्रदान की गई। इसका आविर्भाव अत्यन्त अनूठा एवं अभूतपूर्व इसलिए है, क्योंकि यह विविध कलाओं, विधाओं एवं शिल्पों का संगम है। इसी के परिणामस्वरूप प्रारम्भ से ही यह मानव-मन को चिन्तन के लिए प्रेरित करती रही है। इस नई विधा नाट्य का सर्वप्रथम आविर्भाव भारतीय मनीषी ऋषि भरत ने अपने तेजस्-बल से किया था, जिसे नाट्य-शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गई है। नाट्य-शास्त्र में नाट्य-कला की ऐतिहासिकता, रचनात्मकता, अभिनयात्मकता और रसात्मकता आदि समस्त नीतियों, नियमों, नियामकों और पात्रों से सम्बन्धित अत्यन्त व्यापक विवेचन किया गया है। इसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसमें विवेचित नाट्य साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक उत्कृष्टतम विधा सिद्ध होती है, क्योंकि काव्यत्व के साथ-साथ दृश्यत्व इसकी प्रमुख विशेषता है। दृश्यत्व हेतु दृश्य-विधान, अभिनय, संवाद, पात्र, गीत, रस तथा अन्य रङ्गमञ्चीय तत्त्वों की आवश्यकता होती है, जिसके लिए नाट्य-शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विवेचन किया गया है। इसी परम्परा के अनुसार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में संस्कृत-नाट्य-साहित्य के अङ्गभूत विषय स्त्री-पात्रों के समीक्षात्मक अध्ययन का यत्न किया गया है।

§ अध्याय - 2 §
****

"संस्कृत-साहित्य में स्त्री-पात्रों का ऐतिहासिक एवं सामाजिक सर्वेक्षण"

" भूमिका "

प्रकृति और पुरुष दोनों ही समान रूप से सृष्टि के आधार-स्तम्भ हैं। प्रकृति-रूपा स्त्री ही विभिन्न रूपों में प्रकट होकर पुरुष के निर्माण की शाश्वत प्रक्रिया को पूर्ण करने में प्राणपण से अपना योगदान देती है। "स्त्री" शब्द मात्र से सहज ही यह अनुमान लगा लिया जाता है कि वह त्याग, सहिष्णुता, सेवा, क्षमा, लज्जा, विनय, संयम, आत्म-समर्पण, वात्सल्य, धैर्य, स्नेह, आत्माभिमान, पवित्रता तथा कोमलता की अप्रतिम प्रतिमूर्ति है। वस्तुतः यही तो उसका स्त्रीत्व है। मानवीय सभ्यता के नूतन विकास का प्रादुर्भाव स्त्री के सहज प्रयत्न का ही प्रतिफल है, जो पुरुष को अपना ममत्व, प्रेम, उत्सर्ग आत्मविश्वास और जीवनदायिनी संकल्पना को प्रदान करके अपनी सम्पूर्णता प्राप्त करती है। अतएव स्त्री और पुरुष सामाजिक व्यवस्था के दो पूरक तत्त्व हैं। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित ऐसा सम्बन्ध है जो एक दूसरे के व्यक्तित्त्व, प्रवृत्तियों और गुणों पर प्रभाव अंकित करता है। पुरुष-स्वभाव में अनेक, उदात्त और अनुदात्त चरित्रगत विशिष्टताएं होती हैं, उसी भांति स्त्री-स्वभाव में भी अनेक दैवी गुण होते हैं, साथ ही साथ कुछ चरित्रगत दोष भी होते हैं।

इतिहास की सांस्कृतिक धारा में भारतीय नारी का अपना एक विशिष्ट अभिनव इतिहास है, जो अनेक सांस्कृतिक-[illegible] को प्रकाश

देने में पूर्णतः समर्थ है, क्योंकि एक नारी ही समाज का वह सशक्त पक्ष है, जो निर्माण और सर्जन की शाश्वत प्रक्रिया की प्रकृति है । सांस्कृतिक इतिहास की धारा में तथा नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में भी नारी की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । नारी ही नाट्य की जीवनदायिनी धारा है, जिसमें जीवन का ही माधुर्य -रस उद्वेलित होता है, जो नायक को प्राणोत्सर्ग के लिए प्रेरित करती है और यही उत्सर्ग इतिहास को नूतनता प्रदान करता है । हमारे आदि आचार्य भरत मुनि ने नारी को सुख का मूल, काम-भाव का आलम्बन और काम को सब भावों का स्रोत बताकर उसकी विवेचना अत्यन्त सूक्ष्मतम रूप से की है[1] । अतएव हम कह सकते हैं कि नारी प्राचीन काल से ही समाज में एक विशिष्टतम स्थान रखती थी क्योंकि ऐतिहासिक यात्रा में उसे गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से नारी का मध्यकाल अत्यन्त दुःखद रहा है, क्योंकि इस काल में वैदिक-कालीन नारी का गौरवपूर्ण स्थान निम्न करके पुरुष अपनी शक्ति, शास्त्र और सामाजिक व्यवस्था का भय दिखाकर उसके भाग्य का निर्माता बन गया । इस कालक्रम में नारी पुरुष के नियन्त्रण में उसकी आश्रिता बनकर अशिक्षा, अज्ञान और सामाजिक प्रताड़ना की पात्र बन गई । उसका आदर्शात्मक और उदात्त स्वरूप इस संक्रमण काल में विलुप्त हो गया ।

1- सर्वस्यैव हि लोकस्य सुखदुःखनिर्वहणः ।

भूयिष्ठं दृश्यते कामः स सुखं व्यसनेष्वपि ।।- नाट्यशास्त्र 22/97 गा0ओ0सी0

यूरोप में पुनरूत्थान और पुनर्जागरण, औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय जन-मानस भी पाश्चात्त्य विचारों से पोषित हुआ । पाश्चात्त्य दर्शन से नारी के समाज का बाह्य और आन्तरिक जीवन भी प्रभावित हुए बिना न रहा । मध्यकालीन नारी की अपेक्षा इस काल में नारी नूतन-चेतनाओं से युक्त हुई और उसमें विद्रोहात्मक स्वरूप उत्पन्न हुआ । यद्यपि इसकी परिणति सुखान्त नहीं थी, तथापि इस काल में नारी पुरूषों की मानसिक संकीर्णता से मुक्त होकर शिक्षा तथा ज्ञान की तरफ प्रेरित हुई । भारतीय विद्वानों, मनीषियों तथा विचारकों की दृष्टि में यूरोपीय नारी की अपेक्षा वैदिक नारी का आदर्शात्मक एवं उदात्त स्वरूप अत्यधिक उच्च था ।

संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार नायक की प्रियतमा या पत्नी "नायिका कही जाती है । यद्यपि यह दृष्टिकोण पाश्चात्त्य दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता, तथापि इसको संस्कृत-नाटकों में अपरिहार्य रूप से प्रयुक्त किया गया है, क्योंकि पाश्चात्त्य मतानुसार नाटकीय कथा-प्रवाह में जिसका प्रधान भाग हो तथा इतिवृत्त को अपने व्यक्तित्त्व से प्रभावित करके उसे फलोन्मुखता प्रदान करे वही नायिका होती है । नारी के अनेक रूप हैं, जिनके विषय में विस्तृत ऐतिहासिक विवेचना अत्यन्त समीचीन होगी, क्योंकि संस्कृत नाट्य-साहित्य में उसके स्वरूप को आदर्शवादी, यथार्थवादी, सुधारवादी, समाजवादी और प्रेमसम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर ही आकलित किया जा सकता है ।

ऐतिहासिक निरूपण :-

इतिहास का प्रारम्भ मानव की संवेतनाओं के प्रस्फुटीकरण द्वारा ही हुआ है । संस्कृत नाट्य-साहित्य में नारी-पात्र या अन्य पात्रों का सर्जन कालक्रम के अनुसार विभिन्न रूपों में इतिहास के अनुरूप ही हुआ है, क्योंकि नाट्य-सर्जना के लिए वस्तु, पात्र आदि सभी तत्त्व, प्राचीन एवं अर्वाचीन इतिहास-वृत्त के चारों ओर घूर्णित होते हैं । आचार्य धनञ्जय ने भी कथावस्तु का विभाजन करते हुए सामान्यत: तीन प्रकार बताए हैं - प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र । यद्यपि उत्पाद्य एवं मिश्र कथानकों में इतिहास परक मूल्य होते हैं, तथापि प्रख्यात कथावस्तु सीधे-सीधे इतिहास से ही जुड़ी होती है । प्रख्यात वस्तु से विशेषत: ऐतिहासिक वस्तु से ही तात्पर्य लिया जाता है, क्योंकि व्याख्याकार धनिक ने प्रख्यात के लिए "इतिहासादे: व्याख्या की है[1] । आचार्य आनन्दवर्धन ने इसी विवेचना को और अधिक सुस्पष्ट किया है । उन्होंने प्रख्यात विषयवस्तु का तथा प्रख्यात उदात्त-चरित्र-नायक के प्रयोग के औचित्य का पूर्ण समर्थन किया है तथा उसकी इतिहासात्मकता का आधार नाट्य-शिल्पों से पुष्ट किया है । ज्ञातव्य है कि उत्पाद्य तथा मिश्र कथानक कल्पित कथा के आधार पर निर्मित होते हैं, किन्तु लाभ की दृष्टि से इतिहास-प्रयोग ही अधिक उपादेय सिद्ध होता है[2] । अतएव निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत-नाट्य की दृष्टि इतिहास-परक और ऐतिहासिक मूल्यों से स्पष्टत: जुड़ी हुई है, क्योंकि

1- दशरूपक 1/15 धनिक की वृत्ति

2- ध्वन्यालोक 3/14.

कल्पित कथावस्तुओं में सिद्ध एवं प्रसिद्ध विषय के न रहने से कदाचित् कवि द्वारा भूल होने की सम्भावना रहती है, किन्तु इसके विपरीत इतिहास-परक इतिवृत्त के ग्रहण करने से ऐसे दायित्व से सहज में ही स्वतन्त्रता मिल जाती है। अब हम नारी की ऐतिहासिक स्थिति को इतिहास के कालक्रम के अनुरूप निरूपित करेंगे।

§क§ <u>वैदिक कालीन नारी</u> :-

वैदिककालीन नारी "रत्नस्वरूपा" थी। नारी के सम्मान का ऊँचा आदर्श इस काल में सर्वोपरि था तथा पुरुष के सदृश ही उसे सभी अधिकार प्राप्त थे। पति और पत्नी एक साथ धार्मिक क्रिया-कलापों को सम्पन्न करते थे। यद्यपि उस समय पितृ-सत्तात्मक परिवार था, तथापि नारी गृह की एकमात्र स्वामिनी हुआ करती थी और समस्त आन्तरिक अधिकार उसी में केन्द्रित थे। सम्भवतः इसीलिए अन्तःपुर को "पत्नीनां सदनं" कहा जाता था, जहाँ पर उनकी स्वतन्त्रता कहीं भी बाधित नहीं होती थी। इसीकारण से ऋग्वेद में नारी को "जायदस्ते" कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि उसके अधिकार का बोध कितना अधिक था तथा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता कितने उच्च रूप में उसे प्राप्त थी। आरम्भ में स्त्रियाँ भी यज्ञोपवीत धारण करके वेद का पठन-पाठन करती थी। यद्यपि परवर्ती काल में ऐसी स्थिति न रह सकी।

वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा का भी यथेष्ट प्रचार परिलक्षित होता है। गार्गी तथा आत्रेयी आदि के द्वारा शास्त्रार्थ में यश कमाना

-------- --

इस बात को पुष्ट करता है । काव्य, सङ्गीत, नृत्य तथा अभिनय आदि ललित कलाओं में भी उन्हें दक्ष किया जाता था । ऋग्वेद के अनुसार अनेक सूक्तों में स्त्रियों के द्वारा मन्त्रों का साक्षात्कार किया गया है । इससे सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ भी वेदाध्ययन करने में स्वतन्त्र थीं । सैनिक शिक्षाओं में भी स्त्रियाँ वैदिक-काल में भाग लिया करती थीं ।
वैदिक-काल में पारिवारिक व्यवस्था में "कुटुम्ब" का प्रचलन था । संयुक्त परिवार होने के कारण यद्यपि कुछ कठिनाइयाँ अवश्य थीं, किन्तु उसका निवारण सह-अस्तित्व के आधार पर सहज ही कर लिया जाता था । यद्यपि "पितृ-सत्तात्मक परिवार" था किन्तु "मातृदेवो भव" के पश्चात् ही "पितृदेवो भव" कहा गया है - यह स्वतः ही स्पष्ट करता है कि नारी को कितना उत्कृष्ट स्थान प्राप्त था और आर्यजन नारियों का कितना अधिक आदरकरते थे , क्योंकि पत्नी के बिना किसी भी यज्ञ की कल्पना भी सम्भव ही नहीं थी और यज्ञ आर्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ कार्य था । माता, गृहिणी, पत्नी, कन्या आदि सबके लिए आदरसूचक अनेक सद्भावनाएँ वैदिक ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती हैं ।

नारी सौन्दर्य के विषय में वैदिक विचारधारा अत्यन्त उदात्त और अभीष्ट है, क्योंकि वैदिक-ग्रन्थों में उसके सौन्दर्य की विशिष्ट व्याख्या की गई है[1] । इस काल में स्त्री का प्रथम आभूषण "लज्जा" स्वीकार किया गया है । ऋग्वेद में कहा गया है कि स्त्री को इस प्रकार रहना चाहिए कि अन्य व्यक्ति सहजता से उसे न तो देख सके और न ही उसकी

1- ऋग्वेद 2/32/7, 10/86/6-8

तीव्र वाणी को सुन सके[1]। स्त्रियाँ आभूषण भी इस तरह के पहनती थीं जो सौन्दर्यवर्धन के साथ-साथ भद्रता, कुलीनता और मंगल के परिचायक हों। स्त्रियों के वस्त्रादि भी इसतरह के होते थे, जिससे शालीनता का बोध होता था। समय-समय पर वस्त्र और आभूषणों का समुचित प्रयोग किया जाता था।

यद्यपि वैदिक काल में नारी को रत्नस्वरूपा कहा गया है और उसके आदर्शात्मक स्वरूप को अत्यधिक प्रधानता दी गयी तथापि कुछ स्थानों पर नारी की चारित्रिक आलोचनाएँ भी की गई हैं। "इन्द्र" का मत था कि स्त्रियाँ मन को अधिकार या वश में नहीं रख सकतीं[2]। किन्तु परवर्ती काल में स्त्रियों की यह उदात्त स्थिति स्थिर न रह सकी।

﴾ख﴿ ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्र ग्रन्थों में नारी :-

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि वैदिक -नारी का स्थान इस काल में कुछ संकुचित कर दिया गया था, क्योंकि लोग पुत्री-जन्म की कामना नहीं करते थे। इस इच्छा से वे कुछ धार्मिक कृत्य भी करते थे कि पुत्री-जन्म न हो तथा इस मौलिक उद्देश्य को भुला चुके थे कि स्त्री के बिना जाति का संवर्धन सम्भव ही नहीं है। "ऐतरेय ब्राह्मण" में कहा गया है कि पत्नी एक साथी है, पुत्री एक विपत्ति है तथा पुत्र सर्वोच्च स्वर्ग का प्रकाश है[3]। इस काल को "संक्रमण-काल" कहा

1- ऋग्वेद 10/71/4

2- इन्द्रश्चिद् वा तदब्रवीद् स्त्रिया आशास्यं मनः अधः पश्यस्य भोपरि।
ऋग्वेद 8/33/17-19.

3- ऐतरेय ब्राह्मण 7/13

जा सकता है तथा तत्कालीन सामाजिक स्थिति में स्त्रियों के अधिकार सीमित होते जा रहे थे। फिर भी नारी पुरुष का सुख-साधन न होकर उसके धार्मिक-कृत्यों की सदैव सहयोगिनी थी। "श्रौत-सूत्रों" तथा "गृह्य-सूत्रों" के अनुसार स्त्रियों की सामाजिक दशा वैदिक-कालीन विचार-धारा के अनुरूप नहीं दिखाई पड़ती, अपितु उसमें काफी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है। फिर भी हिन्दू-विवाह और नर-नारी का प्रमुख लक्ष्य वंशवर्धनार्थ "पुत्र-कामना" था। साथ ही साथ समृद्ध सामाजिक और धार्मिक जीवन-यापन के लिए भी नारियों को प्रश्रय दिया जाता था।

§ग§ उपनिषद् काल में नारी -

उपनिषद् काल में नारी का स्थान पूर्ववर्ती ब्राह्मण-काल के समान ही परिलक्षित होता है, क्योंकि उपनिषदों में नारी-विषयक सन्दर्भों का अभाव सा है। नारी के ईश्वरीय तत्त्व की विवेचना उपनिषदों में की गई है जो कि सम्भवतः नारी का आदर्शात्मक स्वरूप ही होगा, किन्तु उपनिषद् काल में विदुषी कन्या की प्राप्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना किया जाना[1] इस बात को सिद्ध करता है कि इस काल में नारी पुत्री के रूप में एक विशिष्ट स्थान रखती थी।

1- बृहदारण्यकोपनिषद् 6/4/17.

§घ§ रामायण काल में नारी -

रामायण महाकाव्य से निःसृत नारी-चरित्र उदात्त और गम्भीर रूप में प्राप्त होता है । सीता के रूप में नारी के उदात्तीकरण का उच्चतम शिखर इसी काल में मिलता है । सीता का राम के प्रति समर्पण, भक्ति, प्रेम तथा विश्वास आदि अत्यन्त आदर्शात्मक स्वरूप में व्याख्यात हुए हैं । इससे अभीष्ट रूप में यही सिद्ध होता है कि इस काल में नारी की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हुई होगी । इस काल में नारी से यही अपेक्षा मुख्यतया की जाती थी कि वह सभी को आनन्दित करे ।

नारी स्वतन्त्र रूप से धार्मिक कृत्यों में पति के साथ या अकेले भाग ले सकती थी । कन्याओं को नैतिक शिक्षा तथा पति-पत्नी के सम्बन्धों का सम्यक् बोध कराया जाता था । इस समय विवाह के लिए स्वयंवर की प्रथा थी । समाज में बहुपत्नी प्रथा भी थी, लेकिन सती-प्रथा को पूर्ण स्थान नहीं मिला था, क्योंकि दशरथ की मृत्यु के उपरान्त कौशल्या का यह कथन है - "मैं पतिव्रता स्त्री के समान पति का अनुसरण करूँगी"[1] इस बात की पुष्टि करता है । इससे यह सिद्ध होता है कि पत्नी पति के आदर्श का अनुसरण करके शेष जीवन बिताती थी । तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में पर्दा-प्रथा विद्यमान थी

1- वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड 66-12.

और इसके लिए वाल्मीकि-रामायण में यह कहा गया है कि "पति से प्राप्त होने वाले सत्कार तथा नारी के अपने सदाचार यही दो उसके श्रेष्ठ आचरण है" किन्तु युद्ध, विवाह, यज्ञ अथवा स्वयंवर आदि में नारी पर्दे से मुक्त थी। फलतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में नारी के आचरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था तथा यह अपेक्षा की जाती थी कि नारियाँ शील एवं मर्यादा के अन्तर्गत रहें। वाल्मीकि ने वस्तुतः दो प्रकार से नारियों के जीवन को विभक्त किया है - प्रथमतः - वे नारियाँ, जो साधुप्रवृत्ति की हैं और लौकिक जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, वे तपस्या करके अपना जीवन व्यतीत करें, यथा- अनुसूया, शबरी, स्वयंप्रभा, अहिल्या इत्यादि इस श्रेणी की नारियाँ हैं। द्वितीयतः- वे नारियाँ जो सामाजिक बन्धन में रहती हुई अपने उत्तरदायित्व एवं कर्तव्यों का पालन करती हैं, यथा- सीता, कौशल्या,

कैकेयी, सुमित्रा, मन्दोदरी, तारा आदि नारियाँ इस श्रेणी में आती हैं। रामायणकाल में स्त्रियों की स्थिति अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं सम्मानित थी। रामायणकाल की प्रमुख नारियों में कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, सीता एवं अन्य प्रमुख चरित्रों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति सजग थीं। कैकेयी द्वारा माँगे गए वरदान के कारण राजा दशरथ को भी अपने पुत्र का परित्याग करना पड़ा था, जो इस बात का द्योतक है कि राजा भी अपनी पत्नी का अपमान करने में सक्षम नहीं थे। सपत्नियों में भी आपस में सौहार्दपूर्ण व्यवहार था। उदाहरणार्थ अपने पुत्र श्रीराम के वनवास में जाने पर भी कौशल्या अपनी सपत्नी कैकेयी के

प्रतिउदार ही बनी रहीं । उस काल की सभी नारियों में सीता का चरित्र अत्यन्त आदर्शपूर्ण है, क्योंकि सीता को जिन कष्टों का सामना करना पड़ा, कदाचित् ही किसी अन्य नारी को ऐसी विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़े, फिर भी उन्होंने त्याग, ममता, प्रेम इत्यादि आदर्शवादी भावनाओं की पराकाष्ठा को प्राप्त किया । संस्कृत-नाट्य-साहित्य में सीता के चरित्र का मूल्यांकन करते हुए अनेक परवर्ती नाटकों में भी सीता के उदात्त चरित्र का प्रकटीकरण हुआ है[1]। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत-नाटकों पर सीता के उदात्त चरित्र का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि प्रमुख संस्कृत नाट्यकारों ने अपने नाट्य और काव्य में उनके चरित्र के उदात्त पक्ष तथा त्याग की भावना को जनसामान्य की प्रेरणा-हेतु प्रमुख स्थान दिया है । वस्तुतः सीता वह भारतीय नारी हैं, जिनके चरित्र के अनुकरण की प्रेरणा समवेत रूप में ली जा सकती है ।

वाल्मीकि रामायण के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि रामायण-कालीन नारी का स्वरूप कुल मिलाकर अत्यन्त भव्य, उदात्त और गम्भीर बोध-युक्त है । मनीषियों ने रामायण-काल को अन्य काल की अपेक्षा नारी हेतु श्रेष्ठ माना है । आज भी रामायण-कालीन आदर्शात्मक स्वरूप को प्रमुखता से प्रश्रय दिया जाता है । इससे यह सिद्ध होताहै कि रामायण-कालीन नारी का आदर्शमूलक स्वरूप अनुकरणीय तो है ही, साथ ही स्तुत्य भी है ।

1- द्रष्टव्य प्रतिमानाटकम्, अभिषेकनाटकम्, उत्तररामचरितम्, महावीरचरितम् इत्यादि ।

(ङ) महाभारत -काल में नारी -

महाभारत-काल में अधिकांशतः रामायण-काल के ही विचारों का प्रभुत्व परिलक्षित होता है । नारी-विषयक उदात्त विचारधारा रामायण के परवर्ती काल में भी सम्भवतः अक्षुण्ण रही और स्त्री के प्रति सम्मानयुक्त दृष्टिकोण महाभारत के अनुशीलन से स्पष्ट होता है । इस काल में कन्याओं के प्रति अत्यधिक स्नेह दिखाई पड़ता है । शुक्राचार्य ने अपनी लाड़ली पुत्री देवयानी को प्रसन्न करने के लिए अपने प्राणों के भी उत्सर्ग में जरा सा भी संकोच नहीं किया[1]। पत्नी के प्रति सम्मान की भावना भी इस युग में विद्यमान थी । यह कहा गया है कि भार्या पुरुष की अप्रतिम मित्र है और धर्म, अर्थ तथा काम का मूल है तथा संसार-सागर से मुक्त होने की इच्छा करने वाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है[2]। महाभारत में विदुर-नीति की व्याख्या को प्रमुख स्थान दिया गया है । वे पति-पत्नी के सम्बन्धों के विषय में कहते हैं - पति पत्नी के प्रति कोमल और सुमधुर वाणी बोले, उससे विवाद न करे, क्रोधित होने पर भी उन्हें प्रताड़ित न करे तथा स्त्रियों को गाली देने वाला पुरुष नरक में जाता है[3]। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए भी भीष्मपितामह ने गृहस्थ-जीवन को ~~कक~~ उत्तम माना है, जो पति-पत्नी के सम्बन्धों से युक्त है, वो

1- महाभारत 1/80/9-10.
2- अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ।।

महाभारत आदिपर्व-1/74/41-53.

3- महाभारत 5/38/10, 1/74/59, 5/37/5.

मानो लक्ष्मी से परिपूर्ण होता है[1]। वे कहते हैं कि जो पति, पिता या भाई कल्याण चाहते हैं, उन्हे स्त्री को अलंकारों से विभूषित करना चाहिए[2]। पुरूष यदि पत्नी का भरण-पोषण नहीं कर सकता तो वह पति कहने का अधिकारी नहीं है[3]। पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ व्यक्ति नरकगामी कहा गया है। इसी कारणवश द्रौपदी ने कीचक से रक्षा हेतु भीम से अनुरोध किया था। द्रौपदी ने पत्नी-रक्षा में असमर्थ पाण्डवों की कटु आलोचना की थी। महाभारत के अनेक प्रसंगों में पत्नी की रक्षा, उसका भरण-पोषण और उसके प्रति सम्मानजनक भावनाओं का अनेकशः प्रतिपादन किया गया है। स्त्री-कर्तव्यों का भी विशेष ध्यान रखा गया है। स्त्री का परम धर्म पति की सेवा ही बताया गया है[4]। स्त्री के सतीत्व को तथा सती के तेजस्-बल को भी महत्त्व दिया जाता था।

उपर्युक्त विवेचित आदर्शात्मक स्वरूप के साथ-साथ इस युग में स्त्री-स्वतन्त्रता पर कुछ अंकुश लगा दिखाई पड़ता है। इस युग में वैदिकयुगीन स्वतन्त्रता का अभाव था। युधिष्ठिर नारियों का आदर करने के साथ-साथ यह भी अभिव्यक्त करते हैं कि उन्हें स्वतन्त्र नहीं छोड़ना

1- महाभारत 13/46/15, 5/3/11.

2- महाभारत 13/46/3.

3- भार्यायाः भरणाद्भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।
महाभारत 1/104/2।

4- महाभारत 5/34/75.

चाहिए । शैशवावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करें[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में साधारण वर्ग की नारियों को कुछ कम स्वतन्त्रता प्राप्त थी, इसके विपरीत राजकीय वर्ग की नारियाँ स्वतन्त्र थीं और उत्सव आदि में भी उपस्थित हुआ करती थीं, क्योंकि जिससमय द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की योग्यता के प्रदर्शन का आयोजन किया था उस समय कुन्ती तथा गान्धारी भी वहाँ उपस्थित थीं ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारत-काल में भी स्त्रियों की दशा अच्छी ही थी । माता, पत्नी तथा कन्या के रूप में उसके जीवन की सार्थकता को सिद्ध किया गया है । अनुशासनपर्व में ही कहा गया है कि दस आचार्यों से बड़ा उपाध्याय है और दस उपाध्यायों से बड़ा पिता, किन्तु दस पिताओं से बड़ी माता होती है । यद्यपि स्थल-स्थल पर स्त्रियों की चारित्रिक आलोचनाएँ भी की गई हैं, किन्तु वह उसकी प्रवृत्ति एवं चारित्रिक विशेषताओं से ही जुड़ी हुई हैं । सामान्यतः इस समय नारी को आदृत नहीं किया गया है । फलतः हम यह कह सकते हैं कि वैदिक और रामायण-युगीन आदर्शात्मक मूल्य कुछ सन्दर्भों में इस काल में भी स्थिर रहे, जिनमें कोई परिवर्तन नहीं

1- पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

– महाभारत, अनुशासनपर्व ।4-46.

किया गया । ध्यातव्य है कि महाभारत काल में नारियों की स्थिति रामायण काल की अपेक्षा निम्न थी और उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाया जा चुका था । महाभारत काल की प्रमुख स्त्रियों यथा - सत्यवती, गान्धारी, कुन्ती, माद्री, द्रौपदी तथा अन्य प्रमुख स्त्रियों के चरित्र के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों में नारी की स्थिति का आकलन किया जा सकता है । महाभारत काल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी । इसीकारणवश पुरुष नारियों के वैयक्तिक अधिकारों का शोषण करते थे । यद्यपि इस काल की स्त्रियाँ पति के प्रति समर्पित थी । पति की प्रसन्नता के लिए ही उन्हें प्रयत्नशील रहना पड़ता था । इसके साथ ही साथ पत्नियों के मान-अपमान के लिए भी पति पर्याप्त रूप से सचेत थे । द्रौपदी के अपमान ने ही तो पाण्डवों को घोर संग्राम के लिए प्रेरित किया । महाभारत कालीन प्रमुख नारियों में द्रौपदी एक ऐसा चरित्र है जो राजपुत्री होने पर भी अपने पतियों के साथ घोर कष्ट को सहती हुई जंगल-जंगल भटकती है तथा राजा विराट की दासी भी बनती है, किन्तु द्रौपदी के चरित्र के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि वह अपने मान-अपमान के प्रति सदैव सजग रही तथा अपने प्रतीकार के लिए सदैव उसने अपने पतियों को प्रेरित किया । फलतः हम कह सकते हैं कि महाभारत काल की एक प्रमुख स्त्री द्रौपदी एक आदर्श पत्नी थीं । राजमहल अथवा वन समस्त स्थानों पर उसने अपने कर्तव्यों का निर्वाह किया । जीवन की अनेक विषम परिस्थितियों का सामना उसने अत्यन्त धैर्य एवं वीरता से किया । वह बुद्धि चातुर्य से युक्त एक

विवेकशील नारी थी । परन्तु फिर भी सम्पूर्ण अवलोकन के पश्चात् अन्त में हम कह सकते हैं कि महाभारत काल स्त्रियों के अधिकारों के लिए एक संक्रमण काल था तथा उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को इस काल में प्रतिबन्धित किया गया था । जब तत्कालीन प्रमुख स्त्री चरित्रों के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है तो जन साधारण की स्त्रियों की स्थिति अवश्यमेव इससे अच्छी नहीं रही होगी ।

(च) स्मृति वाङ्मय में नारी -

स्मृतिकाल में नारी की स्थिति में काफी कुछ परिवर्तन परिलक्षित होता है, क्योंकि स्मृतिकारों ने नारी के आदर्शात्मक स्वरूप को त्यागकर उसके वास्तविक (रियलिस्टिक) विचारधारा का पोषण किया गया है । इस काल में नारी की स्थिति बहुत कुछ गिर गई थी क्योंकि मनु ने जहाँ पर नारी-विषयक नियमों का प्रतिपादन किया है, वहाँ पर शूद्रों को अवश्य सम्मिलित किया है । नारी और शूद्र का एक साथ उल्लेख मिलना इस बात का द्योतक है कि नारी को सम्मानजनक दृष्टिकोण नहीं मिल पा रहा होगा और उसके आदर्शात्मक स्वरूप का पतन हो चुका होगा । इस काल में स्त्रियाँ न वेदाध्ययन कर सकती थीं और न ही उपनयन संस्कार । स्त्रियों के लिए वैवाहिक संस्कार ही विधि-सम्मत थे तथा पति की ही सेवा-शुश्रूषा करना तथा गृहकार्य ही करना उचित था[1] ।

1- वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो, गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।।
मनुस्मृति, 2-67.

स्मृतिकार स्त्री-स्वतन्त्रता के भी पोषक नहीं दिखाई पड़ते । मनु कहते हैं कि स्त्रियों को कभी भी स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए । उन्होंने पिता, पति और पुत्र पर उसकी रक्षा का भार सौंपा है । स्त्री की रक्षा में प्रयत्नशील मानव, धर्म की रक्षा करता है । यह विडम्बना है कि मनु ने माता और गृहिणी के रूप में नारी को सम्मान देने की चेष्टा की है । स्त्री का प्रतिव्रता होना ही उस युग की पहली माँग थी ।

फलतः ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि यह काल नारी-जीवन के लिए संक्रमण-काल था, क्योंकि तत्कालीन समस्त साहित्य में स्त्री का आदर और अनादर दोनों ही व्याख्यात हुए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि औपनिषदिक विचारधारा का पोषण होने के कारण नारी को हेय दृष्टि से देखा गया होगा, क्योंकि उपनिषदों में कहा गया है कि समस्त मोक्ष-प्राप्ति में भौतिकता ही मार्ग-बाधा है तथा विद्वानों ने नारी को ही उस भौतिकता का केन्द्रबिन्दु मानकर नारी की स्वतन्त्रता को अवमानित कर दिया । इसके साथ-साथ कुछ राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन भी परिवर्तित हुआ, जिसके फलस्वरूप सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की अभीप्सा भी बढ़ती गई और विदेशी आक्रमणकारियों को बचने के लिए स्त्रियों को गृह के अन्दर ही बन्द करने की चेष्टा की गई । फलतः यह कहा जा सकता है कि नारी-जीवन में परिवर्तनों की श्रृंखला में यह एक नूतन परिवर्तन था कि वह मात्र गृहदेवी के रूप में प्रतिष्ठित हुई और उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन किया गया ।

{छ} पुराण-साहित्य में नारी -

धार्मिक साहित्य में पौराणिक विचारधारा को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है । पुराणों में कहा गया है कि नारी सृष्टि का आवश्यक अंग है, बिना नारी के सृष्टि सम्भव नहीं है । उमा को जगत्-जननी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, जिनमें कार्तिकेय के रूप में सौभाग्य समाहित था । इस युग में नारी की पुनःप्रतिष्ठा हुई जो कि वैदिक युग में मान्य थी । सपत्नीक कार्यों को प्रमुखता प्रदान की गई । न केवल यज्ञ के अवसरों पर वरन् दानादि के अवसरों पर भी उनकी उपस्थिति अनिवार्य मानी गई । उस समय गृहिणी की सार्थकता तभी सिद्ध होती थी जब वह पति के साथ यज्ञ में संयुक्त रूप से उपस्थित हो । पुराणों में अनेक स्थलों पर विधवा-विवाह और सती-प्रथा का समर्थन किया गया है । कहीं-कहीं पर शिक्षा के विषय में विरोध दिखाई देता है क्योंकि एक तरफ पुराणों में बृहस्पति, भगिनी, अपर्णा, एकपर्णा, एकपटला, धारिणी, शतरूपा तथा उमा आदि नारियों का अध्यात्म-शिक्षा के विषय में उल्लेख किया गया है तथा दूसरी ओर नारियों को शास्त्राध्ययन के लिए निषिद्ध किया गया है । फलतः यह कहा जा सकता है कि पुराण-साहित्य में जहाँ प्रवृत्ति का निर्देश है, वहाँ निवृत्ति भी पूर्णतया मान्य है । इसी कारण से एक तरफ नारी को आदर दिया गया है, तो दूसरी ओर उसे आदरहीनता भी मिली । वस्तुतः प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित तत्त्व के रूप में गृहस्थ धर्म का परिपालन नारी के द्वारा ही पोषित और पल्लवित हुआ है और उसी के आधार पर परिवार, समाज और देश की

परिकल्पनाएँ की गई हैं, यही नारी-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । भिन्न-भिन्न विचारधाराओं, मान्यताओं, परिपाटियों, नियमों और नियामकों के मध्य नारी-जीवन को केन्द्रबिन्दु बनाया गया है जो काल-क्रम के अनुरूप अपना स्वरूप बदलते रहे हैं , किन्तु इस काल में उसकी स्वतन्त्रता एवं सम्मान को कुछ अधिक ही अंकुश लगाया गया था ।

§ज§ <u>मध्यकाल में नारी</u> -

मध्यकालीन नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय रही है । यवन आक्रान्ताओं और राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के तेजी से परिवर्तन के फलस्वरूप नारी को गृह तक ही केन्द्रित किया गया और उसकी बाह्य स्वतन्त्रता को अत्यन्त संकुचित कर दिया गया । इस बाह्य स्वतन्त्रता के संकुचित होने के साथ-साथ आन्तरिक स्वतन्त्रता भी बाधित हुई क्योंकि इस काल में सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक मूल्यों का भी पुनरूत्थान हुआ जिसका कटु प्रभाव नारी-जीवन पर अधिक ही पड़ा । इसी युग में यवन आक्रमणकारियों के अत्याचारों के फलस्वरूप भारतीय नारी की मर्यादा को सुरक्षित करने हेतु पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि अनेक कुरीतियों के मध्य जीवन-यापन करना पड़ा । नारी के मुखमण्डल का सौन्दर्य छिपाने के लिए एक हाथ लम्बा अवगुण्ठन भी आवश्यक हो गया, परिणामस्वरूप यह कहा जा सकता है कि प्रतिबन्धित सामाजिक जीवन के फलस्वरूप जनित प्रतिक्रियावादी विचारधारा ने भारतीय इतिहास के मध्यकाल में वैदिक कालीन नारी का गौरवपूर्ण स्थान विलुप्त कर दिया ।

समाज और शास्त्रों का नीति-नियन्ता तथा व्याख्याता शक्तिशाली पुरूष ही हुआ और उसने नारी को स्वतन्त्रता तथा अधिकारों से वंचित कर उसे दायित्वों और नियन्त्रणों की एक कठोर श्रृंखला में जकड़ दिया । इस काल में नारी सहचरी, देवी, माँ तथा मित्र के स्थान पर पुरूषों की क्रीत-दासी बनकर अशिक्षा तथा अज्ञान की उस अटूट श्रृंखला में सिमट कर रह गई, जो कि आज आधुनिक युग में भी मुक्ति-पथ नहीं प्राप्त कर सकी ।

॥ड॥ <u>आधुनिक युग में नारी</u> -

यूरोप में पुनरूत्थान और पुनर्जागरण की नूतन विचारधारा ने सारे संसार में नई संचेतनाओं का प्रसार किया, जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग में नारी के प्रतिमानों में परिवर्तन हुआ । पश्चिम के जीवन-दर्शन से भारतीय समाज भी प्रभावित हुआ, जिसके फलस्वरूप यहाँ भी शिक्षा, सामाजिक अधिकार तथा राजनैतिक चेतनाओं में नारी की आवश्यकता को दृष्टिगत करते हुए कुछ परिवर्तन हुए । धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक बन्धनों का भी अवसान हुआ । नारी इस युग में अपने सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों के प्रति अत्यन्त सजग और प्रयत्नशील हुई । अतः इस युग में नारी-जीवन में पर्याप्त परिवर्तन हुए, जो परम्पराओं में विश्वास करने के साथ-साथ रूढ़ियों से मुक्त होना चाहती है और शिक्षा-दीक्षा पर भी ध्यान देकर मानसिक चेतनाओं को विकसित करना चाहती है । वर्तमान

काल में नारी में सहिष्णुता भी है और कर्तव्य-पालन की उत्कृष्ट भावना भी । वह सद्गृहिणी बनकर अपने परिवार को समाज में उत्कृष्ट स्थान दिलाने की चेष्टा करती है । यद्यपि आज चारों तरफ नारी-स्वातन्त्र्य और उसके उन्मुक्त जीवन जीने की प्रतिक्रियावादी विचारधारा भी संचरित हो रही है, किन्तु भारतीय जनमानस में ऐसी विचारधारा का स्थान पाश्चात्य विचारधारा की अपेक्षा नगण्य है, क्योंकि आदि से वर्तमान काल तक नारी को अधिकतर आदर्शपरक मूल्यों में ही सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए शास्त्रकारों, समीक्षकों, विचारकों तथा चिन्तकों आदि ने निर्देशित किया है । निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य विचारधारा का अन्धानुकरण भारतीय जनमानस विशेषत: नारी को उचित मार्ग की ओर ले जाने में अक्षम है, क्योंकि आज भी नारी अशिक्षा, अज्ञान, अन्धविश्वास और रूढियों में जकड़ी हुई है । नारी-स्वातन्त्र्य और उसके सामाजिक, राजनैतिक अधिकार मात्र शाब्दिक बनकर रह गए हैं, व्यावहारिक स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है । हाँ, आशावाद की प्रकाश-किरणें अब कुछ-कुछ दिखाई पड़ रही हैं । भविष्य में नारी वैदिक काल से आधुनिक काल तक की परिवर्तन -शृंखला में सम्भवत: कुछ नूतन आयामों में जिए ।

" सामाजिक निरूपण "

"शब्द" और "अर्थ" के सामंजस्य से साहित्य का निर्माण होता है । "शब्द" शून्य से जाग्रत होते हैं, इन जाग्रत शब्दों को "अर्थ" समाज देता है,

---

क्योंकि शब्दार्थ की अवगति समाज के सापेक्ष होती है, जिसके फलस्वरूप व्युत्पन्न भाषा सामाजिक सम्पत्ति है । प्रश्न यह उठता है कि शब्द से व्युत्पन्न भाषा जब सामाजिक सम्पत्ति है तो उससे उत्पन्न होने वाली विभिन्न ललित कलाएँ एवं अन्य शास्त्रीय आयाम क्या समाज से एक अटूट सम्बन्ध रखते हैं ? समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मानव अपनेजीवन के अरुणोदय काल से ही सुख-दु:ख आदि से व्युत्पन्न भावों की अभिव्यंजना के लिए जिन नूतन माध्यमों का उपयोग करता है, अन्ततोगत्वा वे ही विभन्न कलाओं का सर्जन करते हैं । "नाट्य" भी उनमें से एक अभिनव विधा है, जो कि सामाजिक दृष्टिकोणों, रीति-रिवाजों वेशभूषाओं और मानव-मन में उठने वाले विभिन्न अन्तरंग भावों का अनूठा संगम है, जिसपर समाज की एक अमिट छाप है तथा व्यावहारिक पक्ष भी उससे प्रत्यक्षत: जुड़ा हुआ है । प्रश्न उठता है कि मानवजीवन का यथार्थ-चित्रण या प्रतिरूपण करना क्या मनुष्य के लिए आवश्यक था ? वस्तुत: इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि जीवन की बाह्य और अभ्यन्तर प्रकृतियों और प्रवृत्तियों के फलस्वरूप व्युत्पन्न भावों की अभिव्यंजना "नाट्य काव्य" के रूप में आदिकाल से ही अनायास सर्जित हुई । आदिकवि बाल्मीकि जिस समय जीवन क्षण की दु:खप्रद अनुभूति कर रहे थे उस समय प्रतिक्रियास्वरूप उनके हृदय से जो काव्य फूट पड़ा वह लोक-स्वीकृत होकर आदिकाव्य कहलाया[1] । वस्तुत: सुख-दु:ख

1- मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा: ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी: काममोहितम् ।। वाल्मीकि रामायण,बालकाण्ड,
सर्ग-2 श्लोक-15 ।

को कम करने हेतु मनुष्य के पास कुछ प्रकृतिस्थ साधन "भावों" के रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है । यह आनन्द की अनुभूति विभिन्न कलाओं के माध्यम से मानव द्वारा अभिव्यक्त होती रही है । वास्तव में कवि या नाट्यकार जिस समाज में जन्म लेता है और जिन बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों में वो अनुभूतियाँ अर्जित करता है, वही भाव रूप में उसकी सर्जना को प्रभावित करती हैं । एक अच्छा कवि या नाट्यकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है । महाकवि भास, भवभूति, कालिदास, माघ तथा बाण आदि अपने-अपने युग के प्रतिनिधि थे । इनकी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक स्थितियों का भरपूर प्रभाव पड़ा है और इनकी सम्यक् विवेचना उस अनूठे ऐतिहासिक तथ्य को सार्थकता प्रदान करती है, क्योंकि समाज में प्रचलित विचारों और भावों का उद्वेलन इन प्रतिनिधियों ने इतनी सहजता और सरसता से किया है कि वह आज भी हमारे ऐतिहासिक और सामाजिक चिन्तन को शोधन, मार्जन एवं पोषण प्रदान करता है ।

संस्कृत-नाटकों पर समाज का क्या प्रभाव पड़ा ? या संस्कृत-नाटकों में समाज का किस प्रकार से चित्रण हुआ ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । संस्कृत नाट्य लोक-जीवन के व्यावहारिक पक्ष से जुड़े हुए हैं, क्योंकि काव्यत्व के साथ-साथ दृश्यत्व इनकी विशिष्टता है । काव्य, उपन्यास या कहानी इत्यादि कल्पनामूलक विचारों से उद्भूत होकर सामाजिक चित्रण

करते हैं, जिसके फलस्वरूप पाठक या श्रोता को मानसिक स्तर पर ही साक्षात्कार हो पाता है, किन्तु इसके विपरीत नाट्य में पात्रों की वेशभूषा आकृति, भाव-भंगिमाओं का अनुकरण तथा भावों की सम्प्रेषणीयता सुमनस् सामाजिकों को यथार्थ जीवन के निकट करती है। फलतः यह कहा जा सकता है कि नाट्य का मानव-जीवन से विशेष सम्बन्ध है, इसी भाँति नाट्य का समाज से भी विशिष्ट सम्बन्ध है।

परिवार सामाजिक संगठन की एक प्रमुख इकाई है। प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रणाली को अधिक प्रश्रय दिया जाता रहा है। धार्मिक अनुशासन एवं नैतिक भावना को उत्पन्न करने में सहायक होने के कारण कुटुम्ब को अत्यन्त उपयोगी माना गया, किन्तु आधुनिक सन्दर्भों में कुटुम्ब अपना अर्थ खो चुका है। कुछ सीमा तक संयुक्त परिवार प्रणाली मध्यकाल तक भी मिलती है परन्तु आधुनिक सन्दर्भों में संयुक्त परिवार-प्रथा बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो चुकी है। इस कारण से नारी की दशा में भी मूलभूत परिवर्तन हो चुके हैं।

विवाह का ढाँचा परिवार को गति देता है। अतएव भारतीय जन-मानस में विवाह एक पवित्रतम संस्था मानी जाती है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, विवाह दोनों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा इसके बिना व्यक्ति अपूर्ण माना जाता है, क्योंकि सृष्टि की प्रक्रिया भी इसके बिना गतिशील

नहीं रह सकती । वैदिक युग में विवाह अपने पूर्ण महत्त्व के साथ समाज में प्रतिष्ठित था, क्योंकि धार्मिक रूप से इसे अत्यन्त महत्त्व दिया जाता था । इस युग में पति-पत्नी के सम्बन्धों में दार्शनिकता का प्रभाव था, क्योंकि विवाह की भावनात्मक एकता के द्वारा आध्यात्मिक शिखर पर पहुँचना एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता थी । मध्ययुग में नारी के लिए विवाह मात्र बन्धन था, क्योंकि इस काल में स्त्रियों के सभी अधिकारों को प्रतिबन्धित कर दिया गया था । पुनर्जागरण काल द्वारा नारी-उन्नति के प्रयत्नों को तत्कालीन नाट्यकारों ने अपने नाट्य में समाहित किया है । 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नाट्यकारों ने विवाह की परिभाषा प्राचीनतम रूप में की है, किन्तु 20 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विवाह की सामाजिकता पर अधिक बल दिया गया है और मध्ययुग की वैवाहिक मान्यताओं को आलोचना की दृष्टि से देखा गया । वर्तमान समय में नारी अत्यधिक जागरूक है किन्तु मध्ययुगीन संस्कृति का प्रभुत्व अभी भी विद्यमान है । वस्तुतः यह काल नई संस्कृतियों और नूतन विचारधाराओं को ग्रहण करने का भी समय है तथा प्राचीन मान्यताओं की शृंखलाओं को तोड़ने का भी समय है । वास्तव में नारी के लिए यह संक्रमणकालीन स्थिति है । एक तरफ बौद्धिक अभीप्सा ने उसे बाह्य और आभ्यन्तर स्वतन्त्रताओं की अभिचेतनाओं के फलस्वरूप अधिकार और कर्तव्य का बोध कराया है तो दूसरी तरफ परिवार की निरंकुशता के फलस्वरूप उसके अधिकारों को अत्यन्त सीमित करने की कुचेष्टा की है, ऐसी विषम परिस्थिति में नारी की स्थिति कुछ सन्दर्भों में अत्यन्त

दयनीय है । आज भी दहेज और सामाजिक कुरीतियों का शिकार अधिकतर नारी को ही बनना पड़ता है । फिर भी, अपेक्षाएँ हैं कि भविष्य में नारी जीवन में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं परिवर्धन अवश्य होगा ।

आर्य सभ्यता की प्रमुखतम उपलब्धि वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन-काल से विद्यमान थी । समाज को चतुर्वर्णों में विभाजित कर लिया गया था । प्राचीन काल में चारों वर्णों में अच्छा सम्बन्ध था, किन्तु परवर्ती काल में इन सम्बन्धों पर कुठाराघात हुआ, क्योंकि आर्थिक विषमताओं में व्यक्ति को अन्य वर्णों के कार्यों को करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न व्यक्ति समाज में अपना विशिष्ट स्थान बनाने लगे और सामाजिक सम्बन्धों में भी तनाव का वातावरण उत्पन्न हो गया । मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक वर्ण-व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए हैं । जिनका नारी की दशा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है । वैवाहिक सम्बन्ध भी प्राचीन काल में चारों वर्णों में हो जाते थे परन्तु परवर्ती काल में स्थिति इसके विपरीत हो गई ।

"धर्म" समाज-संरचना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधार स्तम्भ है, जो नैतिकता एवं अनैतिकता का बोध कराता है । प्राचीन काल से धार्मिक वृत्तियों ने व्यक्ति को सदैव आदर्शपूर्ण कार्यों हेतु प्रेरित किया है, किन्तु नारी के सन्दर्भ में धर्म का व्यवहार शोषणयुक्त रहा है । शब्दान्तर से यह अभिव्यक्त कर सकते हैं कि धार्मिक-नीति का सर्जन करने वाले अधिकतर पुरुष ही रहे हैं जिन्होंने नारी की सत्ता का निषेध करने में पर्याप्त योगदान

दिया है । पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा और स्त्री-स्वतन्त्रता पर धर्म के नाम पर ही अंकुश लगाया जाता रहा है । वैदिककालीन संस्कृति और सभ्यता में धर्म के अनुरूप स्त्री को जो स्वतन्त्रता प्राप्त थी वह आज आधुनिक काल में भी नहीं प्राप्त है, कारण स्पष्ट है कि पुरुष अपने अधिकार में कोई भी कमी नहीं करना चाहता । महाभारत में स्त्री के अधिकार की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि स्त्री को बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए । यह कलुषित विचार-धारा यत्र-तत्र आज भी विद्यमान है ।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों एवं कुतर्कों ने स्त्री जाति का अत्यधिक शोषण किया है ।

समाज-व्यवस्था के प्रारम्भिक काल को छोड़ कर मध्यकाल से आधुनिक काल तक स्त्री की दशा बदलती ही रही है । वैदिक-काल एवं वर्तमान काल को छोड़कर नारी शोषिता ही रही । उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता, शिक्षा-दीक्षा, धार्मिक एवं राजनैतिक चेतनाएँ सभी पति द्वारा प्रतिबन्धित रही है । कभी वह पर्दा-प्रथा की यातना से जकड़ी गई है तो कभी सती-प्रथा के नाम पर उसका दहन किया गया है । इन समस्त दशाओं का संस्कृत-नाट्यकारों ने अपने काल से सम्बन्धित स्त्री-दशा का निरूपण किया है तथा नवीनता प्रदान करने की कतिपय चेष्टा की है ।

ये नाट्यकार कहाँ तक सफल रहे इसका मूल्यांकन हम अपने व्यवहारिक पक्ष में करेंगे ।

सभ्यता और संस्कृति के विकास में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है । शिक्षा के द्वारा ही व्यक्तित्त्व का विकास होता है । प्राचीन काल में अभिभावक अपने पुत्रों के साथ-साथ पुत्रियों को भी शिक्षित करने के लिए यत्न करते थे । अपाला, घोषा, विश्ववरा आदि नाम प्राचीन काल की विदुषियों के हैं, जो आदि ग्रन्थों में प्राप्त हैं । ये सभी नाम यह सिद्ध करते हैं कि पुरुषों के समान ही स्त्रियाँ भी शिक्षा की अधिकारिणी थीं । मध्ययुग के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रत्येक दशा में स्त्रियों के लिए यह युग अन्धकारमय था । पुनर्जागरणकाल एवं आधुनिक काल में शिक्षा-व्यवस्था पर समुचित ध्यान दिया जा रहा है, फिर भी अभी पुरुषों के समान स्त्रियों में शिक्षा का प्रतिशत अत्यल्प है । सभ्यता के विकास के लिए मात्र एक पक्ष की शिक्षा उचित मार्ग दर्शन नहीं कर सकती । स्त्रियों की शिक्षा-व्यवस्था में और अपेक्षित सुधार होने पर ही उसकी स्वतन्त्रता, वैयक्तिक अधिकार एवं कर्तव्य के प्रति उसकी जागरूकता बढ़ेगी और वह समाज को अपना योगदान अधिक मात्रा में प्रदान करेगी ।

समाज की प्रगति का आधार-स्तम्भ "अर्थ" है, जो भौतिक समृद्धि का साधन है । भारत मूलतः कृषि-प्रधान देश है । ऐसी परिस्थितियों

में कृषि से ही अर्थ का अर्जन किया जाता है । प्राचीन काल में नारी, पुरुष की प्रभुसत्ता में केन्द्रित थी, उसकी व्यक्तिगत आय का शास्त्रों में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है । हाँ, गुप्तकाल में गणिकाएँ एवं वेश्याएँ नृत्य आदि का आयोजन करके अपनी व्यक्तिगत आय करती थीं । मध्यकाल में भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता, किन्तु आधुनिक पुनर्जागरण काल में यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्ति को भौतिक सुखवाद की ओर उन्मुख करके एक अभिनव युग प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप शिक्षा-दीक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ नारियों को भी व्यक्तिगत अर्थोपार्जन-हेतु कुछ अधिकार मिलने प्रारम्भ हुए । वर्तमान युग में शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप नारियों को व्यक्तिगत अर्थोपार्जन हेतु पुरुष के सदृश अधिकार दिए गए हैं । फलतः हम कह सकते हैं कि नारी का व्यक्तिगत आय-स्रोत प्राचीन काल से मध्यकाल तक नगण्य सा रहा है किन्तु आधुनिक युग में अर्थोपार्जन हेतु वह पुरुष के समान संघर्षशील है ।

प्राचीन काल में उत्सवों एवं आमोद प्रमोद का महत्त्वपूर्ण स्थान था । विभिन्न उत्सवों में स्त्री-पुरुष सम-रूप से भाग लेते थे और आनन्द उठाते थे । बाल्यावस्था में बालिकाएँ कन्दुक-क्रीड़ा करती थीं । वीणा बजाना, हास-परिहास आदि भी मनोरंजन के साधन थे । मध्यकाल में मेला-संस्कृति का जन्म हुआ जिसमें स्त्री-पुरुष समान रूप से विभिन्न अवसरों पर एकत्रित होते थे और मेले का आनन्द उठाते थे, किन्तु वर्तमान युग में समस्त क्षेत्रों में स्त्रियाँ बढ़-चढ़ कर भाग ले रही हैं और मनोरंजन साधनों में उनके अधिकार किसी भी प्रकार से कम नहीं हैं ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम आगे संस्कृत के मूर्धन्य नाट्य-कारों के नाटकों का आकलन करेंगे । ज्ञातव्य है कि समाज के विभिन्न क्रिया-कलाप नियम-नियामक एवं सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रतिरूपण नाट्य-कारों या रचनाकारों की दृष्टि से अछूता नहीं रहा है । कारण स्पष्ट है कि रचना- धर्मिता का प्रमुख आधार-स्रोत यही समाज है । कोई भी साहित्य-कार, नाट्यकार, कवि या सर्जक समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि इनका लक्ष्य स्वयं समाज को नूतन दृष्टि देना ही रहा है । ऐसी परिस्थिति में संस्कृत-नाट्यकार भी इस लक्ष्य से अछूते नहीं है ।

ऐतिहासिक एवं सामाजिक विश्लेषणों के आधार पर कतिपय नाट्य-कृतियों में नारी की स्थिति का मूल्यांकन

नारी मानव के लिए एक अनूठी पहेली और आकर्षण का केन्द्र रही है । "आकर्षण" सौन्दर्यानन्द का प्राणतत्त्व है, जो नारी में प्रकृतिस्थ रूप में विद्यमान रहता है । सभ्यता के अरुणोदय काल से ही प्रगति के प्रत्येक सोपान पर नारी विषयक अवधारणाओं का स्वरूप बदलता रहा है और उसे अपने को सदैव नूतन सर्जनाओं के मध्य अभियोजित करना पड़ा है, क्योंकि प्राकृतिक रूप में नारी कोमल,सुमधुर, सरल-चित्त तथा सामान्य रूप से बन्धनों में आबद्ध है । हमारी प्राचीन सभ्यता के आरम्भिक काल में नारी को गौरवपूर्ण

स्थान प्रदान किया गया था, परन्तु पुरुष की सत्ता की प्रधानता के कारण शनैः-शनैः उसका महत्त्व, आदर, सम्मान और उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता अंकुशित होती रही, मध्य काल में आकर यह अंकुश अपने चरम-बिन्दु पर पहुँच गया था । नारी का कोई वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सार्वजनिक महत्त्व नहीं था । उस अन्धकारमय सम्पूर्ण युग में नारी-मुक्ति के लिए आशा की कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती थी, किन्तु "काल या समय सदैव अपने प्रतिमान बदलता रहता है" - इस ऐतिहासिक सत्य ने मध्य-युगीन विचार-संस्कृति का परवर्ती काल ने विध्वंस कर डाला और आधुनिक युग तक पहुँचते-पहुँचते विद्वानों तथा सुधारकों ने नारी के प्रति उदार तथा सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण बनाने की अभिनव चेष्टा की तथा उसके प्राचीन गौरव को पुनःप्रतिष्ठित किया जाने लगा ।

युगीन विचारधाराओं से संस्कृत-साहित्य भी दूर न रह सका । हमारे ऐतिहासिक और सामाजिक विश्लेषणों से यह स्पष्ट है कि नारी सदैव संक्रमणकालीन स्थितियों से गुजरती हुई आज आधुनिक युग के उज्ज्वल पथ पर उन्मुख है, जहाँ विकास की अनेकों किरणें फूट रही हैं। नाट्य एक ऐसी विधा है, जो हमारे ऐतिहासिक पुरुषों, लोक-नायकों, राष्ट्र-निर्माताओं और प्रेरणाप्रद व्यक्तियों के इतिहास को परम्परया सुरक्षित रख सका है और जिसने प्रत्येक मानव के हृदय को आन्दोलित किया है । काल-क्रम के अनुरूप संस्कृत-नाट्यकारों ने अपने नाटकों में नारी की स्थिति का आकलन करते हुए उसकी

चरित्रगत विशिष्टताओं, समाज में प्रचलित नियमों-नियामकों के प्रति उसकी आबद्धता तथा उसके सौन्दर्य के साथ-साथ उसकी समस्त कलावृत्तियों का निरूपण अपने काव्य में किया है । इसी वस्तुस्थिति का व्यावहारिक आकलन हम संस्कृत के कतिपय प्रमुख नाटकों के विश्लेषण द्वारा करेंगे ।

भास के नाटकों में नारी की स्थिति -

भास के नाटकों से तत्कालीन भारतीय समाज, संस्कृति तथा सभ्यता का सम्यक् ज्ञान होता है । इन नाटकों के अनुशीलन से यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था विद्यमान थी तथा इस व्यवस्था का स्थान अत्यन्त उच्च कोटि का था । ब्राहमण धार्मिक कार्य तथा शान्ति के निमित्त ही कहीं भोजन आदि किया करते थे[1]। आश्रम-व्यवस्था का भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है । आश्रम में शिक्षा-दीक्षा होती थी तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना होता था, कदाचित् इसी कारणवश आश्रम में वयोवृद्ध स्त्रियाँ तो धर्म-सेवन-हेतु रह सकती थीं, किन्तु युवतियों का प्रवेश वर्जित था[2]। समाज में धर्म की प्रबलता थी । विशेषत: "कालाष्टमी" को कुमारी लड़कियाँ यक्षिणी की पूजा किया करती थीं[3]। इन नाटकों के द्वारा विवाह-सम्बन्ध के विषय में भी नूतन ज्ञान

1- प्रतिज्ञायौगन्धरायण 1/16,17, 2/13,14

2- स्वप्नवासवदत्तम् 1/12-13

3- प्रतिज्ञायौगन्धरायण 3/5,6

प्राप्त होता है। विवाह के लिए कन्या के पिता दूत-सम्पात करते थे तथा कन्या-पक्ष को ही वर की खोज करनी पड़ती थी। कन्यादान की भी परम्परा थी[1]। ऋग्वेद-काल की भाँति इस काल में भी बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी[2]। समाज में स्त्रियों का आदर था। वे समान रूप से पति के सामाजिक कार्यों का दायित्व निभाती थीं। उन्हें शिक्षा-प्राप्ति का भी अधिकार प्राप्त था। विवाहित स्त्रियाँ पर्दा करती थीं[3]। स्त्रियों की सुरक्षा-हेतु "न्यास प्रथा" का भी प्रचलन था। स्त्रियाँ व्यवसाय में भी समान रूप से भाग ले सकती थीं। अस्तु, भास के नाटकों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन ऐतिहासिक स्वरूप में व्याख्यात स्त्रियों की सामाजिक स्थितियों का प्रभाव भास के नाटकों पर समुचित रूप से पड़ा। वह स्त्री-दशा का कोई नूतन आयाम तो सर्जित नहीं कर सके, परन्तु उन्होंने तत्कालीन स्त्री की स्थितियों के विभिन्न मूल्यों का ही निरूपण किया है तथा नायिका एवं अन्य स्त्री-पात्रों के चित्रांकन के लिए समाज में प्रचलित नियमों, बन्धनों एवं उसकी व्यक्तिगत स्थितियों का ही पोषण किया है।

शूद्रक के नाटकों में नारी की स्थिति-

भास के पश्चात् महान नाट्यकार शूद्रक का स्थान है। शूद्रक द्वारा रचित मृच्छकटिक एक असाधारण कृति है, जिसके आधार पर तत्कालीन,

---

1- स्वप्नवासवदत्तम् 1/7-8

2- वही 6/9

3- वही 6/16-17

सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों का गुरुतर अध्ययन या विश्लेषण निरूपित किया जा सकता है। शूद्रक के नाटकों का आविर्भाव गुप्तसाम्राज्य के परवर्ती काल में हुआ। गुप्तकाल प्रत्येक दृष्टिसे "स्वर्ण-युग" था, किन्तु परवर्ती अवस्था ऐसी न रह सकी। इन परवर्ती परिस्थितियों का प्रभाव मृच्छकटिक लेखन पर सहजता से पड़ा। मृच्छकटिक के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था विद्यमान थी। ब्राह्मण पूजनीय होता था। कुछ "वर्णसंकर" जातियों का भी उद्भव इस काल में हुआ, जिन्हें "प्राकृत" कहा गया। समाज में स्त्रियों का अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान था, किन्तु समाज में उच्छृंखलता भी विद्यमान थी, जिसके कारण नारियाँ सदैव दुष्ट पुरुषों के आतंक से आतंकित भी रहती थीं। स्वतन्त्र रूप से उनका कहीं आना-जाना प्रायः प्रतिबन्धित था। स्त्रियाँ पर्दे लगी गाड़ियों में ही घर से बाहर निकलती थीं[1]। स्त्रियों की वैवाहिक दशा अधिक सुखद नहीं थी। समाज में "सती प्रथा" का भी प्रचलन था। प्रस्तुत नाटक में "धूता" सती होने का प्रयत्न करती है[2]। ब्राह्मणवर्ण चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण की स्त्री से विवाह करने में स्वतन्त्र था। शर्विलक तथा चारुदत्त का क्रमशः मदनिका तथा वसन्तसेना से विवाह इसी व्यवस्था का परिचायक है। स्त्रियाँ चित्रकला, सङ्गीतकला, वीणावादन आदि में प्रवीण हुआ करती थीं। वेश्या-प्रथा का प्रचलन अपनी चरम सीमा पर था।

1- मृच्छकटिक 6/12

2- मृच्छकटिक 10/55

मृच्छकटिक के अनुशीलनोपरान्त हम कह सकते हैं कि भासकालीन समाज की स्त्रियों की दशा की अपेक्षा इसके परवर्ती काल {शूद्रककाल} में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं थी । इसका प्रमुख कारण यह था कि राज्य में सदैव राजनैतिक विद्रोह की स्थिति बनी रहती थी, जिसके फलस्वरूप दुष्ट और आततायी व्यक्तियों का प्रभुत्व था तथा वे व्यक्ति राज्य में सामाजिक-व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करते रहते थे । चारों तरफ शक्तिशाली पुरूषों की उच्छृंखलता और उत्पात के फलस्वरूप स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं अनेक सामाजिक अधिकारों में कमी आ जाना स्वाभाविक ही था । फलतः यह कहा जा सकता है कि शूद्रककालीन स्त्रियों की सामाजिक स्थिति दयनीय थी जो कि पुरूषों की सत्ता पर आधृत थी । समाज में वेश्याप्रथा के प्रचलन के कारण गृहस्वामिनी के अधिकार पर्याप्त संकुचित हो गए थे ।

अस्तु शूद्रककालीन ऐतिहासिक अवलोकनों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि तत्कालीन स्त्रियों की दशा शोचनीय ही थी ।

कालिदास के नाटकों में नारी की स्थिति-

शूद्रक के नाट्यानुशीलन के पश्चात् महाकवि कालिदास के नाटकों के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक और आर्थिक स्थितियों का भी विश्लेषण निरूपित किया जा सकता है और तत्कालीन

ऐतिहासिक अवलोकनों से यह दृष्टिगत होता है कि महाकवि कालिदास तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित लोक-विश्वास, सामाजिक स्थिति तथा धर्म आदि की अवहेलना न कर सके । यद्यपि सामान्यतया कोई भी महाकवि समसामयिक प्रचलित व्यवस्थाओं से अछूता नहीं रहा तथापि कालिदास के नाटकों में सामाजिक परिवेश का अत्यधिक चित्रण हुआ है, जिससे तत्कालीन नारी-समाज का विश्लेषण एवं आकलन किया जा सकता है । हम कालिदास के मालविकाग्निमित्र एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सामाजिक, धार्मिक परिवेश में स्त्री-दशा का आकलन करेंगे ।

"मालविकाग्निमित्र" "शुंगकाल" एवं "पुष्यमित्र" के शासनकाल की कृति है । तत्कालीन इतिहास के अनुसार वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा इस काल में हुई थी । इसमें पुष्यमित्र द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ का विस्तार से उल्लेख हुआ है । नाटक में परिव्राजिका कौशिकी के साथ धारिणी का वर्णन करते हुए आत्मविद्या से परिपूर्ण वेदत्रयी के सदृश उसकी शोभा का वर्णन किया गया है[1]। ब्राह्मण-धर्म का पालन किया जाता था, ऐसा भी नाटक के अनुशीलन से ज्ञात होता है । ब्राह्मण पूज्य थे[2]। यद्यपि वर्णाश्रम-व्यवस्था विद्यमान थी, तथापि अन्य लोग योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करने में स्वतन्त्र थे । वह वर्ण-व्यवस्था धीरे-धीरे जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हो रही थी[3]।

1- मालविकाग्निमित्रम् 1/14.

2- मालविकाग्निमित्रम् 2/9,10.

3- अभिज्ञान शाकुन्तलम् 2/13 .

समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के सदृश ही था । नारियाँ विदुषी हुआ करती थीं । स्त्री-शिक्षा की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । शाकुन्तला का ललित संयुत प्रेमपत्र उसके शिक्षित होने का स्पष्ट प्रमाण है[1] । मालविकाग्निमित्र में भी कौशिकी पण्डिता थी । "मेधाविनी" स्त्रियाँ प्राश्निक रूप में निर्णय देने के लिए भी सक्षम थीं[2] । स्त्रियाँ कला में प्रवीण हुआ करती थीं । वे नृत्य, गीत, शिल्प आदि ललित कलाओं में भी विशेष योग्यताएँ रखती थीं । उदाहरणार्थ अनसूया और प्रियंवदा चित्रकला की ज्ञाता थीं[3] । कलानिपुणा कन्याओं को "शिल्प कन्या" कहा जाता था[4] ।

स्त्रियाँ कलात्मक रूप श्रृंगार करती थीं तथा आभूषण भी पहनती थीं । विवाहित स्त्रियाँ मंगल-अलंकारों से अलंकृत रहती थीं । यह अलंकरण भी एक विशेष प्रकार की कला थी । सौभाग्यकांक्षिणी स्त्रियाँ अवगुण्ठन भी भी करती थीं[5] ।

1- तेन ह्यात्मन उपन्यासपूर्वं चिन्तय तावल्ललितपदबन्धनम् ।

-अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक 3 .

2- मालविकाग्निमित्र 1/15-16, 5/9-10.

3- चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरणविनियोगं कुर्वः ।

- अभिज्ञान शाकुन्तलम्, अंक 4,

4- मालविकाग्निमित्र 1/3-6, 5/9-10

5- मालविकाग्निमित्र 1/14, 5/3,4,7,18,19, तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् 5/13

स्त्रियों के विवाह किशोरावस्था में होते थे। उनके सम्बन्धों को पिता अथवा अभिभावक आदि निश्चित करते थे। बहुविवाह का भी समाज में प्रचलन था, क्योंकि अन्तःपुर में अनेक रानियों का उल्लेख इस बात को सिद्ध करता है[1]। स्त्रियाँ पति सेवा में रत रहती थीं। उनका प्रमुख कर्तव्य था कि वह सास-ससुर एवं गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करती रहें[2]। स्त्री-पुरुषों में हास-परिहास की भी छूट थी[3]। वसन्तोत्सव में स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते थे।

राजपरिवारों के अन्तःपुर में "महिषी" अर्थात् नारियों को सम्राट से भी अधिक अधिकार प्राप्त था, "महादेवी" और "देवी" शब्दों का प्रयोग सम्भवतः इसी बात को पुष्ट करता है[4]। नारी को आदर्श एवं सद्गृहिणी की शिक्षा पितृकुल में ही मिलती थी। उदाहरणार्थ महर्षि कण्व आश्रमवासी होने पर भी शकुन्तला को लौकिक आदर्शों एवं सद्गृहिणी होने की शिक्षा देते हैं[5]।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सहजता से निकाला जा सकता है कि कालिदास के मालविकाग्निमित्र एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् नाटक हमारी

1- मालविकाग्निमित्र 2/14 तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/18

2- अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4/8

3- मालविकाग्निमित्र 3/12-13

4- जाते, भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व।
अभिज्ञानशाकुन्तलम् चतुर्थ अंक

5- अभिज्ञान शाकुन्तलम् 4/18

सांस्कृतिक विरासत का एक अमूल्य ग्रन्थ है । तत्कालीन ऐतिहासिक सर्वेक्षणों के अनुरूप ही समाज में प्रचलित व्यवहारों एवं परम्पराओं का स्पष्ट प्रभाव महाकवि पर पड़ा है । यह उल्लेखनीय है कि तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में वैदिक पुनर्जागरण के फलस्वरूप स्त्रियों के प्रति पुनः उदार दृष्टिकोण अपनाया गया, जबकि भास-कालीन नाटकों में स्त्रीदशा कुछ संकुचित रूप में परिलक्षित होती है ।

उपर्युक्त व्याख्यात प्राचीन कवियों ने अपनी सूक्ष्म और तीक्ष्ण बुद्धि से अपनी सामाजिक स्थितियों का गहनतम अध्ययन किया, जिसका स्पष्ट प्रभाव उनकी नाट्य-कृतियों पर पड़ा, किन्तु शनैः-शनैः नाट्य की निश्छल धारा उत्तरोत्तर ह्रास की ओर उन्मुख हुई, जिसके फलस्वरूप अनेक परवर्ती नाट्यों में सामाजिक पक्ष का उतना उत्कृष्ट प्रभाव नहीं मिलता है । इसी क्रम में यदि हम हर्षप्रणीत रत्नावली का अनुशीलन करते हैं तो ज्ञात होता है कि यह रत्नावली अन्तःपुर की रोमान्चक प्रणय नाटिका है । यद्यपि प्रणय-कथानक में सामाजिक पक्ष का उतना स्पष्ट चित्रण नहीं किया जा सकता, फिर भी इस नाटिका में सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ही चित्रण मिलता है । इस नाटिका के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति सामान्यतया ठीक ही थी । वे शृंगार, सज्जा, वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद और चित्रकला आदि के क्षेत्र में समाज में अपना एक स्वतन्त्र एवं विशिष्ट स्थान रखती थीं । सामाजिक उत्सवों में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही समान रूप से एक साथ भाग ले सकते थे । स्त्रियाँ प्रायः पर्दा करती थीं । परिवार में विवाहिता पत्नी का श्रेष्ठ स्थान था । इसी कारण से तो जब वासवदत्ता रत्नावली को कैद कर देती है तो राजा उसे छुड़ाने

में असमर्थ होता है । इसलिए यह सिद्ध होता है कि कुलवधुओं का स्थान बहुत सम्मानित था तथा वे पति के कार्यों पर भी अंकुश लगाने में समर्थ थीं । समाज में तन्त्र-मन्त्र का भी प्राधान्य था । अन्त में हम यह कह सकते हैं कि हर्ष-काल में स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक थी ।

मध्यकाल एवं आधुनिक काल के संस्कृत नाट्यों में स्त्री-पात्रों को पर्याप्त महत्त्व नहीं दिया गया है । अतः तत्कालीन नाटकों के स्त्री-पात्रों का मूल्यांकन करना कठिन कार्य है । मध्यकाल में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । यवन आततायियों ने भारतीय समाज की दशा को अत्यन्त शोचनीय बना दिया था । जिसके कारण स्त्रियों पर भी अत्यन्त कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे । ऐसी परिस्थितियों में नारी की स्थिति का केवल ऐतिहासिक मूल्यांकन ही किया जा सकता है । उसके सामाजिक पक्ष को नाटकों में स्पष्ट रूप से प्राप्त न कर सकने के कारण मूल्यांकित करना न्यायोचित नहीं प्रतीत होता ।

निष्कर्ष -

सामाजिक एवं ऐतिहासिक सर्वेक्षणों के आधार पर सहजता से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सभ्यता के आरम्भिक चरण से ही नारी के स्वरूप में शनैः-शनैः क्रमिक परिवर्तन परिलक्षित होते रहे हैं । परिवर्तन की यह असीम एवं अनवरत शृंखला आज भी निरन्तर गतिमान है । यदि भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा का गवेषणापूर्ण अध्ययन किया जाए

तो यह ज्ञात होता है कि भारतीय नारी का अपना एक स्वतन्त्र एवं अभिनव इतिहास है जो अनेक सांस्कृतिक सर्जनाओं को प्रकाश देने में पूर्णतः समर्थ है । नारी ही समाज का वह सशक्त पक्ष है जो निर्माण और सर्जन की शाश्वत प्रक्रिया को निरन्तर गति देता है ।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य पर हमारी ऐतिहासिक और सामाजिक विचारधाराओं का प्रभाव कैसे अंकित हुआ ? इसके उत्तर में सहजता से यह कहा जा सकता है कि नाट्याचार्य समाज के ही एक अंग थे तथा समाज के प्रति उनकी प्रतिबद्धता या उत्तरदायित्व ही इसका प्रमुख कारण था । इसी प्रतिबद्धता के कारण उन्होंने समाज में प्रचलित सिद्धान्तों तथा नियम-नियामकों को अपने शास्त्र में अंकित करने की चेष्टा की है । इसी भाँति श्रेष्ठ कवियों तथा नाट्यकारों ने जिस साहित्य का निर्माण किया वह भी साहित्य का दर्पण-स्वरूप था । कवियों ने शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप ही अपनी रचनाओं में अपने काल की सामाजिक परिस्थितियों का आकलन किया है । कभी-कभी कवियों ने सामाजिक दृष्टि से शास्त्रीय सिद्धान्तों की अवहेलना भी की है । उदाहरणार्थ शूद्रक के काल में गणिका को निम्न कोटि का सामाजिक स्थान प्राप्त था, किन्तु उन्होंने गणिका को कुलांगना के रूप में प्रतिष्ठित करके नायक के अन्तःपुर में प्रवेश दिलाया, जो कि एक ओर शास्त्रीय रूप से न्यायोचित नहीं था, किन्तु दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से उदात्त और उत्कृष्ट त्याग के फलस्वरूप गणिका को अन्तःपुर में प्रवेश कराना एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक दायित्व कहा जा सकता है । कारण, कवि समाज में व्याप्त

कुव्यवस्था को सुव्यवस्था के रूप में स्थापित करता है, जो उसके अन्त:करण के द्वारा समाज में नूतन सर्जनात्मक परिवर्तन की चेष्टा है । इसी आधार पर समाज में प्रचलित नियमों और सिद्धान्तों तथा कवि अथवा नाट्यकार के मध्य प्राय: विवाद उत्पन्न हो जाया करता है, क्योंकि कवि कहीं शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप कोई निर्णय लेता है तो कहीं सामाजिक स्थितियों के अनुरूप नूतन सन्देश देने की चेष्टा करता है । ऐतिहासिक एवं सामाजिक विश्लेषणों के आधार पर कुछ विशिष्ट नाट्यों में नारी की स्थिति का मूल्यांकन करते समय स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि समस्त उत्कृष्ट कवियों ने अपने काल की सामाजिक दशा और विचारधारा का पोषण स्वतन्त्र रूप से किया है तथा समाज के नियमों में नूतन परिवर्तन भी किए हैं । प्राय: सभी नाटकों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित, लोक-विश्वास, शिक्षा, खेल एवं धार्मिक कृत्यों का उल्लेख मिलता है । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक एवं ऐतिहासिक विचारधारा का प्रभाव समस्त नाट्यकारों की कृतियों पर पूर्णरूपेण पड़ा है , और यह प्रभाव विभिन्न संस्कृत रूपकों में प्राप्त स्त्री-पात्रों के चरित्रों पर पर्याप्त रूप से परिलक्षित होता है ।

॥ अध्याय-3 ॥

"नायिकाओं की नाट्य-शास्त्रीय समीक्षा"

भूमिका

नारी पुरुष और पौरुष की जननी एवं कोमलता, ममत्व, वात्सल्य, प्रेम, अनुराग, सौन्दर्य तथा आनन्द का अक्षुण्ण स्रोत है। उसमें सृष्टि की समस्त शक्तियों का अथाह सागर लहराता है, क्योंकि वह सृष्टि की उत्पादिका, प्रतिपालिका और गृहस्थ-जीवन की प्रवाहमयी सरिता है, उसी के फलस्वरूप परिवार जैसी महान् संस्था का आविर्भाव हुआ है तथा वह समाज एवं राष्ट्र के विकास की सशक्त गतिमान धारा है। नारी की वृत्ति त्रिगुणात्मक है - आस्वादरूप, आस्वाद्यरूप तथा आस्वादकरूप। इसके फलस्वरूप वह स्वयं आकर्षण का केन्द्र है तथा दूसरे के प्रति आकर्षित होने की क्षमता भी रखती है। सौन्दर्य के इस विशिष्ट "उद्गम" में मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियाँ आदिकाल से ही उद्वेलित होती रही हैं, क्योंकि भावानुभूति और सौन्दर्यानुभूति मनुष्य का श्रेष्ठ कलात्मक गुण है, जिसके फलस्वरूप वह आनन्द की चरम-चर्वणा तक अपने अन्तरतम में उठने वाली अनुभूतियों तक पहुँचता है। इस आनन्द की अनुभूति उसे निवृत्ति का वास्तविक मार्ग निर्दिष्ट करती है। अतएव पूर्णत्व की प्राप्ति-हेतु प्रकृतिस्वरूपा नारी और पुरुष का संयोग अत्यन्त आवश्यक है। सम्भवतः आदि देवता शिव को "अर्द्धनारीश्वर" की संज्ञा इसी कारणवश प्रदान की गई थी।

मनु कहते हैं - जो पुरुष है वही स्त्री है[1]। मनुस्मृति के इस उद्धरण से यह ज्ञात होता है कि आदिकाल से ही स्त्री और पुरुष को समान रूप से समाज का आवश्यक और अविभाज्य अंग स्वीकार किया गया था। आदिऋषि भरत के नाट्यशास्त्र के अनुशीलन से भी यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नाटकीय वृत्तियों- भारती, सात्वती तथा आरभटी के अतिरिक्त कैशिकी वृत्ति की अत्यन्त आवश्यकता थी, क्योंकि नाट्य अपनी सम्पूर्णता इस वृत्ति के बिना नहीं प्राप्त कर सकता था। कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत नृत्य, गीत, विलास, काम-क्रीडायुक्त कोमल श्रृङ्गारी व्यापार, सुकुमार केश-विन्यास आदि आते हैं। अतएव दिव्य रूप में स्त्री-पात्रों के अवतरण की अवधारणा नाट्यशास्त्र में व्या-ख्यात हुई है। ब्रह्मा जी ने भरत से कहा कि - कैशिकी वृत्ति को नाट्य में सम्मिलित करो।" इस पर भरत ने इन्द्र से अनुरोध किया कि कैशिकी-वृत्ति-हेतु वे स्त्री-पात्रों को उपलब्ध कराएँ। इन्द्र ने भरत के अनुरोध को स्वीकार करते हुए नाट्य और चेष्टालङ्कारों में चतुर मंजुकेशी, सुकेशी और मिश्रकेशी आदि अप्सराओं की सृष्टि करके उन्हें नाट्य में कैशिकी के प्रयोग के लिए भरत को दिया।[2]

1- एतावानेव पुरुषो यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना ।। -मनुस्मृति 9/45

2- अशक्या पुरुषैः सा तु प्रयोक्तुं स्त्रीजनादृते।
ततोऽसृजन् महातेजा मनसाप्सरसो विभुः ।। -नाट्य शास्त्र 1/46।

अस्तु, स्त्री-पात्रों की भूमिका अत्यन्त प्राचीन काल से ही नाट्य में समाहित थी, जिसकी विस्तृत विवेचना एवं उनके श्रेणी-विभाजन की विभेदक शैली भरत के नाट्यशास्त्र में स्पष्ट रूप से मिलती है। संस्कृत-नाट्याचार्यों ने नायक की पत्नी या प्रिया को ही नायिका के रूप में स्वीकार किया है।[1] वास्तव में नाटक के संविधान में स्त्री-पात्रों की भूमिका नायक के सदृश है[2] तथा कथानक का केन्द्रीकरण स्त्री-पात्रों के चारों ओर घूर्णित होता है, क्योंकि नाटकीय कार्य-व्यापार को नायक-नायिका की समग्रता या सहअस्तित्व के साथ फलागम तक पहुँचने के उद्देश्य से ही पूर्णता मिलती है।

प्रस्तुत अध्याय में भरत-सम्मत एवं परवर्ती आचार्यों के अनुसार नायिकाओं के वर्गीकरण एवं उनके समीक्षात्मक आधार को प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है।

सैद्धान्तिक पक्ष

भारतीय काव्य-शास्त्र की प्राचीनतम परम्परा से ही नायिका के भेद का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में

1- रूपकरहस्य पृष्ठ- 99

2- संस्कृत नाटक, ए0बी0कीथ, पृष्ठ 329, संस्करण 1965।

नायिकाओं का विस्तृत एवं सूक्ष्यतम विभाजन किया है । परवर्ती आचार्यों द्वारा भी अपने लक्षण-ग्रन्थों में विभावों की व्याख्या करते समय नायिका के भेद का सुस्पष्ट विवेचन मिलता है । प्रारम्भ में प्राचीनतम परम्परा के अनुरूप नाट्य-शास्त्र के नायिका-विभाजन का उत्तरोत्तर समुचित विकास परवर्ती नाट्याचार्यों ने किया है । अस्तु, नायिका-विभाजन के सर्वप्रथम प्रवर्तक आचार्य भरत ही हैं, जिन्होंने इसकी आधार-शिला रखी थी । परवर्ती संस्कृत-आचार्यों ने नायिका- भेद में भरत-कालीन मत को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया है । अतएव हम भरत- सम्मत मत एवं परवर्ती आचार्यों के मतों को पृथक्-पृथक् प्रस्तुत करेंगे ।

भरतकृत नायिका-वर्गीकरण -

ऋषि भरत ने स्त्री को सुख का मूल तथा कामभाव का आलम्बन मानकर विस्तार तथा सूक्ष्मता से नायिका-भेद को प्रस्तुत किया है । उन्होंने नायिका-भेद के लिए पाँच आधार बतलाए हैं, जिनमें चार आधार प्रमुख हैं - नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचार की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ तथा अंगरचना और अन्तःप्रवृत्ति की विशेषता । पाँचवां गौण आधार है - अंगरचना और प्रकृतिगत वर्गीकरण|इसके आधार पर नारी के आंगिक सौन्दर्य के साथ-साथ शील, सौजन्य और जीवन की प्रकृति तथा अवस्था को यथेष्ट महत्त्व दिया है । निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आचार्य भरत द्वारा नायिकाओं

का वर्गीकरण करते समय तत्कालीन नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आचरण के प्रति लोक-विश्वास एवं वैदिक धारणाओं का अनुसरण किया गया होगा, किन्तु नारी की स्त्रियोचित विभिन्न दशाओं का अवलम्बन भी उन्होंने ध्यान में रखा, जिसके आधार पर भी उन्होंने नायिकाओं के अन्य भेद किए। आंगिक-सौष्ठव एवं उसके शील को भी यथोचित स्थान प्रदान किया है।

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार -

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि समाज में नारी का स्थान प्रमुख है। नारियों का समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अलग-अलग स्थान है। इस कारणवश सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार उसकी स्थितियाँ भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि जिस प्रकार से नायकों के भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर होते हैं, उसी प्रकार नायिकाओं के भी भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर होते हैं। इसी को आधार मानकर भरत मुनि ने नायिकाओं के चार प्रकार बताए हैं - द्विव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका। प्राकृतिक रूप में इन चारों प्रकार की नायिकाओं का अलग-अलग नायकों से सम्बन्ध होने के कारण इनके पुनश्च चार गुणात्मक भेद हो जाते हैं। यथा - ललिता, उदात्ता, धीरा और निभृता। यह प्राकृतिक गुण नायकों के अनुरूप ही नायिकाओं में भी उपलब्ध होते हैं। दिव्या एवं नृपपत्नी प्रथम श्रेणी के स्त्री पात्र स्वीकार किए जा सकते हैं जिनमें उपर्युक्त चारों गुणों का समावेश होता है किन्तु कुलांगना में उदात्त और

निभृत दो ही गुण होते हैं । इसी भाँति गणिका में भी ललित और उदात्त दो ही गुण होते हैं । भरत ने गणिका के समान शिल्पकारिका नामक पाँचवें भेद को भी अन्यत्र बताया है जो गणिका की भाँति ललित और उदात्त गुण से युक्त होती है । भरत-सम्मत इस मत का अनुसरण परवर्ती नाट्यकारों कालिदास, शूद्रक एवं भवभूति ने अपने नाटकों में किया है । कालिदास की नायिकाएँ दिव्या और नृपपत्नी हैं - विक्रमोर्वशीय की उर्वशी एवं मालविकाग्निमित्र की नायिका मालविका क्रमशः दिव्या एवं नृपपत्नी हैं । भवभूति के उत्तररामचरितम् में नायिका सीता नृपपत्नी है तथा भास के स्वप्नवासवदत्तम् में नायिका वासवदत्ता भी नृपपत्नी ही है । शूद्रक के मृच्छकटिक में नायिका वसन्तसेना गणिका है । यद्यपि कुछ आचार्यों ने भरत-सम्मत सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर नायिका-विभाजन को ऐच्छिक और सिद्धान्तहीन कहा है, किन्तु भरतकालीन सामाजिक स्थितियों का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि भरत-सम्मत मत का आधार समीचीन है, क्योंकि तत्कालीन नारी की स्थिति के समुचित मूल्यांकन को दृष्टिगत रखते हुए ही उन्होंने यह नायिका-विभाजन किया था, जिसे ऐच्छिक और सिद्धान्तही नहीं कहा जा सकता । परवर्ती आचार्यों की समकालीन परिस्थितियों के फलस्वरूप नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार परिवर्तित होता रहा है, जिसका प्रभाव घटनाक्रम के अनुरूप नाट्याचार्यों पर पड़ा तथा नायिकाओं का भेद करते समय उन्होंने उसे सम्प्रेषित करने की चेष्टा की । अस्तु, भरत का मत परवर्ती आचार्यों के लिए नायिका विभाजन-हेतु ठोस आधार प्रस्तुत करता है ।

आचरण की शुद्धता का आधार -

नाट्यशास्त्र के 24वें अध्याय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि स्त्रियों के प्रति किए जाने वाले उपचार के दो भेद होते हैं-नारी और पुरुषों का पारस्परिक प्रणय-व्यापार (कामोपचार), जो नाट्यधर्मी-विधा के अनुसार किया जाता है, वह दो प्रकार का होता है -बाह्य तथा आभ्यन्तर- इसमें आभ्यन्तर उपचार राजाओं द्वारा व्यवहृत होता है, जिसका प्रदर्शन "नाटक" में तो होता है, किन्तु नाट्य के अन्य भेदों में नहीं किया जाता तथा बाह्योपचार का निष्पादन प्रकरण में निबद्ध किया जाता है ।[1] पुनश्च, इसी उपचार के सन्दर्भ में भरत ने स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति के अनुसार उसकी आचरणगत शुद्धता एवं अशुद्धता का मूल्यांकन किया है । वे कहते हैं कि- "नारी की प्रकृति तीन प्रकार की होती है - बाह्य प्रकृति, आभ्यन्तर प्रकृति और बाह्याभ्यन्तर प्रकृति । जो स्त्रियाँ उच्च कुलों से सम्बन्धित होती हैं तथा जिनके आचरण में शुद्धता होती है, उन्हें आभ्यन्तर प्रकृति वाली नारी कहा गया है । वेश्या या गणिका को बाह्य प्रकृति की संज्ञा दी गई है । अन्तःपुर में निवास करने वाली स्त्री, जिसका चरित्र अखण्डित (कृतशौचा) है, ऐसी गणिका की कन्या बाह्याभ्यन्तर या मिश्र प्रकृति वाली स्त्री होती है । यदि वह कुलीन स्त्री अथवा राजकन्या हो तो ऐसी दशा में उसे मिश्र-प्रकृति की स्त्री कहा गया है।[2]

1- कामोपचारो द्विविधो नाट्यधर्मेऽभिधीयते ।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव नारी पुरुषसंश्रयः ।। 148 ।।
आभ्यन्तरः पार्थिवानां स च कार्यस्तु नाटके ।
बाह्यो वेश्यागतश्चैव स च प्रकरणे भवेत् ।। 149 ।। -नाट्यशास्त्र, तृतीय भाग अध्याय 24, प्रथम संस्करण, 1983

2- नाट्यशास्त्र, तृतीय अध्याय 24/151, 152, प्रथम संस्करण, 1983.

यद्यपि ऐसी स्त्री गणिका ही होती , किन्तु उसका आचरण अत्यन्त शुद्ध स्वीकार किया गया है । राजा के अन्तःपुर में कुलजा या दिव्यांगना का ही प्रवेश होता है । "विक्रमोर्वशीय" नाटक में उर्वशी का पुरूरवा के अन्तःपुर में प्रवेश निर्दिष्ट है । यहाँ कुलजा एवं वेश्या के प्रति समान व्यवहार की अपेक्षा की गई है । फलतः हम यह कह सकते हैं कि भविष्यद्रष्टा आचार्य भरत ने तत्कालीन स्त्री को सामाजिक स्थिति एवं नारी की विभिन्न प्रकार की आचारगत परिशुद्धता का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए ही नायिका के आचरण की शुद्धता का आधार ग्रहण किया होगा । यद्यपि बाह्य और आभ्यन्तर प्रकृति के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने इसे आलोचित किया है तथापि भरत के समकालीन नाट्यकारों द्वारा मूलतः भरत-सम्मत मत का समर्थन इस तथ्य का स्पष्ट रूप से निदर्शन करता है कि भरत का आचरण-शुद्धता का आधार कतिपय परिस्थितिजन्य स्थितियों के कारण समीचीन ही है ।

कामदशा की अवस्था का आधार -

भरत ने विशेषतः शृङ्गारप्रधान रूपकों के लिए नायक और नायिका के शाङ्गारिक विवरण में उसके अवस्थागत आठ प्रकार के भेद किए हैं । जब नायिका का नायक से मिलन नहीं होता तो ऐसी दशाओं में नायिका पर क्या प्रतिक्रिया होती है ? और उसे किन-किन अवस्थाओं गुजरना पड़ता है ? इसी के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है । नायक का नायिका के प्रति उपेक्षा, अनादर-भाव अथवा विदेश-गमन होने

पर विप्रलब्धा श्रृङ्गार का जन्म होता है, जो कि नाट्य का एक आवश्यक तत्त्व है । भरत-सम्मत आठ प्रकार की काम-दशा पर आधारित भेद का इसी कारण से परवर्ती आचार्यों ने भी अनुसरण किया है । भरत द्वारा प्रणीत नायिकाओं के आठ प्रभेद निम्नवत् हैं - वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका[1] ।

वासकसज्जा नायिका की व्याख्या करते हुए आचार्य भरत ने विहित किया है कि जब नायिका वेशभूषा से पूर्णतया सज्जित होकर नायक या अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करती है, तब ऐसी नायिका को "वासकसज्जा" कहा गया है । वह योग्य तथा आकर्षक वस्त्राभूषणों को प्रसन्नतापूर्वक धारण करती है तथा काम-केलि के लिए आतुर होकर अपने प्रिय की बाट जोहती है । जब नायक या उसका स्वामी अपने कार्यों में व्यस्त होने के कारण समय से लौट नहीं पाता है,तब इसी कारणवश नायिका दुःखी होती है, तो वह "विरहोत्कण्ठिता" नायिका कहलाती है । यद्यपि नायिका जानती है कि उसका स्वामी अवश्य आएगा, किन्तु फिर भी उसके विलम्ब के कारण अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाती है, क्योंकि उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व रहता है । जब

1- तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा ।
स्वाधीनभर्तृका चापि कलहान्तरितापि वा ।। 210 ।।
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका ।
तथाभिसारिका चेव ज्ञेयास्त्वष्टौ तु नायिकाः ।। 211 ।।

-नाट्यशास्त्र, तृतीय भाग, अध्याय 24, प्रथम संस्करण, 1983 ।

नायिका का प्रिय नायक या उसका प्रियतम उसके व्यवहार से आकृष्ट होकर उसके पास सदैव, उपस्थित रहता है, तब ऐसी नायिका को "स्वाधीनपतिका" या "स्वाधीनभर्तृका" समझना चाहिए। जब नायिका को ईर्ष्या व कलह-वशात् उसका प्रियतम उसे छोड़कर दूर चला जाता है और फिर उसके न आने के कारण नायिका अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करती है, ऐसी नायिका को "कलहान्तरिता" की संज्ञा दी गई है। धृष्ट नायक की नायिका खण्डिता कहलाती है, क्योंकि जिसका पति (नायक) अन्य स्त्री पर आसक्त होने के कारण नायिका के समीप समय पर न आ पाए तो उसकी प्रतीक्षा करती हुई दुःखी नायिका "खण्डिता" कहलाती है। जब नायिका दूती के द्वारा अपने प्रिय को मिलन-संकेतस्थल पर बुलाती है, किन्तु किन्हीं कारणोंवश उसका प्रिय उस स्थान पर नहीं पहुँच पाता है, इसके कारण वह अपने को अत्यन्त अपमानित अनुभव करती है, तब ऐसी नायिका को "विप्रलब्धा" कहा गया है। जब नायक किसी महत्त्वपूर्ण अथवा गुरुतर कार्यहेतु परदेश में निवास करता है, जिसके कारण उसकी उपस्थिति के बिना केशसंस्कार रहित शिथिल वेणी वाली नायिका को "प्रोषितभर्तृका" कहा गया है। किसी विशिष्ट संकेतस्थल पर नायक से मिलने वाली अथवा उसे बुलाने वाली नायिका को "अभिसारिका" की संज्ञा दी गई है। इन आठों प्रकार की नायिकाओं की योजना रंगमंच पर इस प्रकार से होनी चाहिए कि कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा तथा प्रोषितभर्तृका नायिका का अभिनय प्रस्तुत करने वाली नायिका

चिन्तायुक्त, उच्छ्वासयुक्त, खेदयुक्त, ईर्ष्यायुक्त, हृदय में ग्लानि, दैन्य, आँसू इत्यादि से युक्त होनी चाहिए तथा अलङ्करण की सामग्री का त्याग कर देना चाहिए । वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका आदि नायिकाएँ उज्ज्वल वस्त्रादि धारण करने वाली होनी चाहिए एवं हर्षयुक्त होनी चाहिए[1] । इन आठ प्रकार की नायिकाओं में रंगमंच पर अभिनय करते समय एक अवस्था में एक ही समय पर दूसरी अवस्था का तिरोभाव नहीं हो सकता, क्योंकि ये आठों प्रकार की अवस्थाएँ सर्वथा भिन्न हैं ।

उपर्युक्त मत का आलकन करते समय आचार्य भरत ने नायिकाओं विभिन्न अवस्थागत भेदों के व्यावहारिक पक्ष का भी आकलन किया है, क्योंकि नाट्यव्यापार में मानव-मन की विभिन्न परिदृश्यावलियाँ रंगमंचित होती हैं । वस्तुतः यह नायिकाओं के मानसिक-व्यापार की वे अवस्थाएँ हैं, जब कि नायक के प्रति नायिकाओं का स्वरूप प्रतिक्रियात्मक होता है और उनके व्यवहारों का प्रदर्शन नायक के वियोग या संयोग के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, भाव-सम्प्रेषण की यही प्रक्रिया कायिक-व्यापार का प्रमुख अंग है ।

1- नाट्यशास्त्र, तृतीय भाग, 24/221-224 प्रथम संस्करण 1983.

अङ्गरचना और अन्तःप्रवृत्ति का आधार -

मुनि भरत ने नारी को आङ्गिक संरचना एवं मानसिक प्रवृत्ति के आधार पर द्विव्यसत्त्वा एवं मनुष्यसत्त्वा आदि भेद किए हैं। उन्होंने नारी की मानोवैज्ञानिक और प्राणशास्त्रीय स्थितियों का आकलन करते हुए नारी के शारीरिक-सौष्ठव और मन की सूक्ष्मतम गत्यात्मक प्रवृत्तियों का अनूठा विश्लेषण किया है। सृष्टि के विकासक्रम में मनुष्य की प्रकृतिस्थ मूल प्रवृत्तियाँ वास्तव में पाशविक वृत्तियों से परिष्कृत होकर विकसित हुई हैं। इस वैज्ञानिक-चिन्तन को ऋषि भरत ने अपने तेजस्बल से विश्लेषित किया है और इस सन्दर्भ में नायिकाओं के बाइस भेद किए हैं - देव, असुर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, पक्षी, पिशाच, यक्ष, ऋक्ष, व्याघ्र, मनुष्य, वानर, हाथी, मृग, मीन, ऊँट, खर, सूकर, अश्व, भैंस, बकरी, तथा गौ के शील या सत्त्व वाली नायिकाएँ[1]। मनुष्य, देवांगनाओं, गन्धर्व-कन्याओं एवं पशु-पक्षी की शारीरिक स्तन रचना और उनकी मानसिक प्रवृत्ति का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त विलक्षण रूप से भरत के विचारों में मिलता है। फलतः हम यह कह सकते हैं कि ऋषि भरत ने अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषणोपरान्त मानव की

1- देवतासुरगन्धर्वरक्षोनागपतत्रिणाम् ।
पिशाचयक्षव्यालानां नर-वानर-हस्तिनाम् ।। 99 ।।
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम् ।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ।। 100 ।।

-नाट्यशास्त्र, तृतीय भाग, अध्याय 24, प्रथम संस्करण 1983.

मूल प्रवृत्तियों के फलस्वरूप व्युत्पन्न मानसिक प्रवृत्तियों की व्यवहार-प्रणाली का विशुद्ध आकलन किया है'। यद्यपि मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ है, तथापि उसकी मौलिक प्रवृत्ति पशु-सदृश ही है ।

प्रकृतिगत आधार -

आचार्य भरत ने नायकों की ही भाँति नायिकाओं के भी प्रकृतिक आधार पर तीन भेद किए हैं - उत्तम, मध्यम और अधम । उपर्युक्त विवेचित नायिकाओं के समस्त प्रकार के भेदों में भी नायिकाओं की तीन प्रकार की ही प्रकृति पाई जाती है । वस्तुतः यह विवेचन मुनि भरत ने स्त्रियों की त्रिविध प्रकृति के आधार पर किया है किन्तु इसका आरोपण नायिकाओं के अन्य विभाजनों पर भी किया जाता है । उत्तम प्रकृति वाली नारी में श्रेष्ठ कोटि के गुण होते हैं, यथा - वह मितभाषिणी, सर्वगुणसम्पन्न, सलज्ज, विनयशील, मधुरवादिनी, रूपवती, ईर्ष्यारहित, धीर एवं गम्भीर प्रकृति की होती हैं । मध्यम प्रकृति की नारी उत्तम प्रकृति की नारी से कुछ कम गुण सम्पन्न होती हैं । उनमें अल्पमात्रा में दोष होते हैं, किन्तु अधम प्रकृति की नारी निकृष्ट स्त्री होती है[1] । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मानवीय प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक होती है । उसी को आधारभूत मानकर यह नायिकाविभाजन किया जा सकता है । यद्यपि भरत ने स्त्रियों

1- नाट्यशास्त्र, तृतीय भाग, 25/38-42, प्रथम संस्करण 1983.

के तीन प्राकृतिक विभेद किए हैं । वास्तविक रूप में प्रकृति के गुणों के आधार पर इस विभाजन को संस्कृत-मनीषियों ने स्वीकार किया है । अतएव हम इसे गौण विभाजन के अन्तर्गत स्वीकार कर सकते हैं ।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि भरत-प्रणीत नायिका-विभाजन अत्यन्त जटिल है । नाट्य-शास्त्र में नायकों के भेद की अपेक्षा नायिका-भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । कारण, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, मानसिक स्थिति एवं प्रकृति सर्वथा भिन्न होती है । प्राचीन काल से ही स्त्रियों पर अत्यधिक सामाजिक अंकुश दृष्टिगत होते हैं । इस कारणवश उनके आचरण, व्यवहार इत्यादि पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता रहा है । वय के अनुसार उनके स्वभाव, क्रिया-कलाप, चेष्टा तथा अंगरचना आदि में परिवर्तन-वशात् उनकी प्रवृत्तियों में सदैव परिवर्तन होता रहता है । यह परिवर्तन की शृंखला यद्यपि असीम है तथापि मुनि भरत ने उसे विशिष्ट आयामों में बाँधने की अत्यन्त कुशल चेष्टा की है । नायिका-भेद की विवेचनानुसार शृंगार रस के वर्णन में आलम्बन विभाव के रूप में वर्णित स्त्री ही नायिका की संज्ञा प्राप्त करती है । भरत ने कामशास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार पर नायिका-भेद का निरूपण करने की प्रक्रिया अपनाई है । इसी कारणवश स्त्रियों की सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ नाट्य-शास्त्र में स्फुट रूप से परिलक्षित हुई हैं । उन्होने दूसरा विभाजन मनुष्यसत्त्वा और देवसत्त्वा के रूप में किया है । इसके सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि नारी के शरीर

और उसके मन की सूक्ष्म ग्रन्थियों में उसकी प्रकृतिस्थ मौलिक प्रवृत्तियों का योगदान होता है, क्योंकि व्यवहारतः भी मानव में यह देखा जा सकता है कि उसमें पाशविक वृत्तियों का भी समावेश होता है, जो कि उसे सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतिकूल उच्छृंखलता की ओर ले जाती है । यद्यपि स्त्रियों पर सामाजिक अंकुश प्राचीन काल से ही अत्यन्त कठोरता से लगाए जाते रहे हैं, फिर भी उसकी प्रकृतिस्थ मूल वृत्तियाँ उसे उच्छृंखलता प्रदान करती हैं । फलतः यह कहा जा सकता है कि भरतसम्मत मत, जिसको उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा तत्कालीन सामाजिक मनोवैज्ञानिक एवं प्राणिशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किया, वह मत परवर्ती आचार्यों के लिए नायिकाओं के भेद-हेतु एक आधार-स्तम्भ है तथा यही मत आगे चलकर नए सर्जनात्मक रूपों में परिवर्तित होता रहा । परवर्ती संस्कृत-मनीषियों ने भरतसम्मत मत को आलोचित किया है, किन्तु उनकी यह आलोचना भरतकालीन स्थितियों का मूल्यांकन करते समय मूल्यहीन सिद्ध होती है, क्योंकि भरत ने अपनी समकालीन स्थितियों का आकलन करते हुए ही नायिकाओं का भेद किया था, किन्तु पूर्व की परिस्थितियों एवं वर्तमान समय की भी परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात होता है कि नारी की स्थिति निरन्तर परिवर्तनशील रही है । ऐसी परिस्थितियों में प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों का मूल्यांकन तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों के अनुरूप ही किया जा सकता है और इसके विपरीत स्थितियों में वे सिद्धान्त आधार तो प्रदान कर सकते हैं किन्तु वे मूल्यहीन सिद्ध होंगे । अतएव भरत-प्रणीत मत अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक चिन्तन पर आधृत है ।

परवर्ती आचार्यों के वर्गीकरण की विश्लेषणा -

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में नायिका-विभाजन की परम्परा भरत के प्रणयन के उपरान्त दीर्घ अन्तराल तक अनुपलब्ध रही, किन्तु दसवीं शताब्दी के उपरान्त संस्कृत आचार्यों ने नायिका-विभाजन की परम्परा को भरत-प्रणीत मत के आधार पर ही तथा सम-सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप स्वतन्त्र-चिन्तन से परिवर्धित एवं परिमार्जिक किया । संस्कृत-साहित्य के अनेक मनीषियों एवं आचार्यों ने नायिका-भेद को थोड़ा बहुत अवश्य ही अपनी विचार-प्रेरणा के द्वारा विकसित किया, किन्तु प्रमुखतः नायिका-भेद की परम्परा आचार्य धनञ्जय, शारदातनय, रामचन्द्रगुणचन्द्र, रुद्रट, विश्वनाथ एवं भानुदत्त ने विकसित की । इन परवर्ती आचार्यों ने भरत-प्रणीत मत को खण्डित किया है एवं नायिका के कुछ नूतन भेदों की चर्चा की है । अधिकतर परवर्ती आचार्यों ने नायिका-विभाजन में एक दूसरे के मतों का ही पिष्टपेषण किया है । यद्यपि आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा कुछ भिन्न मत का पोषण करते हैं तथापि उनकी भी नायिका-विभाजन की विचार-प्रणाली सामान्य रूप से परवर्ती आचार्यों से मिलती-जुलती परिलक्षित होती है । वस्तुतः नायिकाओं का वर्गीकरण लौकिक एवं अलौकिक, जातियों के शील, नायक के प्रति नायिका का अनुराग, नायिकाओं के सामाजिक बन्धन, अवस्थागत भेद, धर्म और गुण के आधार पर उनका व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, शारीरिक संगठन एवं आंगिक विन्यास एवं उनकी प्रकृतिगत विशिष्टताओं को आधार मान कर ही परवर्ती आचार्यों ने प्रस्तुत करने का यत्न किया है एवं समस्त आचार्यों ने स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से इन विभाजनों को अपने मत-मतान्तरों द्वारा स्पष्ट किया है । परवर्ती

आचार्यों ने नायिकाओं के प्रमुख रूप से तीन भेद किए है - स्वकीया, परकीया, एवं सामान्या । इन्हीं तीनों भेदों में अन्य उपभेद भी समाहित किए गएहै । भरत-प्रणीत नाट्यप्रयोग की दृष्टि से दिव्या, नृपपत्नी, कुलजा और गणिका के चार भेद परवर्ती आचार्यों की दृष्टि में अपर्याप्त है, क्योंकि संस्कृत-नाट्य में जो नूतन सर्जनाऍं की गई थीं उन पर मात्र इन्हीं चार भेदों को आरोपित कर देना सम्भव नहीं था । इसी कारणवश यह स्पष्ट होता है कि परवर्ती आचार्य सम-सामयिक स्त्रियों की सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दशा के अनुरूप नायिकाओं के समस्त चरित्रों को मात्र चार भेदों में वर्गीकृत नहीं कर सकते थे । अतएव उन्होंने संस्कृत-नाट्य को नूतन आयाम प्रदान करने हेतु नए वर्गीकरण का प्रणयन किया । यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अपनी शास्त्रीय-विवेचनाओं में कामशास्त्र के प्रभाव को भी स्वीकार किया है, तथापि यह विकास उनकी नूतन सर्जना का स्पष्ट संकेत भी देता है । निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि परवर्ती आचार्यों ने संस्कृत-नाट्य को नूतन एवं विस्तृत आयाम देने हेतु नायिकाओं का वर्गीकरण अपनी तत्कालीन स्थितियों का आकलन करते हुए निरूपित किया है । अब हम प्रमुख आचार्यों के मत-मतान्तरों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे -

दशरूपककार आचार्य धनञ्जय ने भरतकालीन मत की अवहेलना करते हुए नायिकाओं का अपने काल की सामाजिक स्थिति का अनुगमन करते हुए नूतन वर्गीकरण प्रस्तुत किया है । वे कहते है कि नायिका तीन प्रकार की होती हैं- स्वकीया, अन्या (परकीया) तथा साधारण स्त्री[1] ।

1- स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।
-दशरूपक, द्वितीय प्रकाश,
15वें श्लोक का पूर्वार्द्ध ।

स्वकीया का सामान्य लक्षण बताते हुए वे कहते हैं कि स्वकीया नायिका शील, लज्जा इत्यादि गुणों से परिपूर्ण होती है तथा वह सच्चरित्र, पतिव्रता, अकुटिल लज्जायुक्त तथा पति के प्रति व्यवहार में अत्यन्तनिपुण होती है। वे स्वकीया नायिका के भी तीन भेद करते हैं - मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा[1]। मुग्धा नायिका की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि मुग्धा नायिका अवस्था तथा कामवासना दोनों में नई रहती है। रति से वह वाम रहती है। तात्पर्य यह है कि उसमें रति से विमुखता होती है तथा नायक के क्रोध करने पर भी वह अत्यन्त कोमल बनी रहती है[2]। पुनश्च मुग्धा नायिका के अवस्थागत चार भेद किए हैं - वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतिवामा, कोपमृदु। वयोमुग्धा का उदाहरण देते हुए आचार्य धनञ्जय कहते हैं कि वयोमुग्धा नायिका वयःसन्धि की अवस्था में होती है तथा वयःसन्धि के कारण विकसित होते हुए यौवन चिन्ह भी पूर्णरूपेण समुन्नत स्थिति में नहीं होते। दशरूपक के वृत्तिकार धनिक भी यौवन की अपर्याप्त अवस्था के द्वारा इस नायिका की स्थिति का आकलन करते हैं[3]।

1- मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक्। -दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, 15वें श्लोक का उत्तरार्द्ध।

2- मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि। -दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, 16वें श्लोक का पूर्वार्द्ध।

3- (क) विस्तारी स्तनभार एव गमितो न स्वोचितामुन्नति
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम्।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ।। - दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, धनिक वृत्ति, पृष्ठ 100.

(ख) उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम्
अपर्याप्तमरोवृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ।।
-दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, धनिक वृत्ति, पृष्ठ 100.

काममुग्धा नायिका कामवासना एवं काम सम्बन्धी विचारों के विषय में मुग्ध रहती है, तात्पर्य यह है कि उसकी रुचि यद्यपि संयोग श्रृङ्गार की ओर प्राकृतिक रूप से होना प्रारम्भ हो जाती है, किन्तु वह काम के विषय में पूर्णरूपेण अभिज्ञ नहीं होती । उसे अपनी सखियों के मध्य श्रृङ्गारिक वार्तालापों का आनन्द सा मिलने लगता है । वस्तुतः वयोमुग्धा की अपेक्षा काममुग्धा नायिका यौवन की ओर उससे अधिक अग्रसर हो रही होती है तथा बाल्यावस्था के आचरण से विमुख होती जाती है । यह कहा जा सकता है कि यह नायिका नूतन यौवन के आविर्भाव से धीरे-धीरे परिपूर्ण हो रही है ।[1] रतिवामा नायिका की व्याख्या करते हुए धनञ्जय कहते हैं कि यह मुग्धा नायिका सुरतक्रीड़ा से भयभीत होती है तथा सुरति के समय सदा वाम वृत्ति का आचरण प्रकट करती है ।[2] कोपमृदु नायिका नायक अथवा पति के अपराध करने पर भी क्रोधित नहीं होती है एवं सरलता से प्रसन्न हो जाती है तथा अत्यन्त अल्प मात्रा में कोप प्रकट करती है ।[3]

1- दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ।।

-दशरूपक द्वितीय प्रकाश,धनिक वृत्ति,पृष्ठ 100

2- दशरूपक, द्वितीय प्रकाश,16 वें श्लोक का पूर्वार्द्ध

3- वही, 2/16 का पूर्वार्द्ध

स्वकीया नायिका का दूसरा भेद मध्या नायिका है। मध्या नायिका की व्याख्या करते हुए दशरूपककार कहते हैं कि मध्या नायिका में यौवन व कामवासना दोनों ही प्राप्त हो चुके होते हैं तथा वह दोनों में निपुण रहती है, सुरतक्रीड़ा को मोह के अन्त तक करने में समर्थ होती है।[1] मध्या के उपभेद करते हुए धनञ्जय ने तीन प्रकार की मध्या नायिकाओं की विवेचना की है - यौवनवती मध्या, कामवती मध्या एवं मोहान्तसुरतक्षमा मध्या। यह तीनों उपभेद मध्या नायिका की यौवन अवस्थाओं के अनुरूप विभक्त किए गए प्रतीत होते हैं। यौवनवती मध्या नायिका की आंगिक स्थिति की विवेचना करते हुए दशरूपककार का मत है कि नायिका के यौवन को कामदेव ने अपने धनुष से छू दिया है। कामवती मध्या नायिका के हृदय में विभिन्न प्रकार के कामसम्बन्धी उद्दीपन भाव उत्पन्न होते हैं जिसके कारण-वश कामवती मध्या लज्जा इत्यादि कई प्रकार के सेतुओं के द्वारा कामदेव के प्रवाह को रोकने की कतिपय चेष्टा करती है, तात्पर्य यह है कि कामवती मध्या नायिका कामवासना से परिपूर्ण होती है। मोहान्तसुरतक्षमा मध्या नायिका की श्राङ्गारिक चेष्टाएँ रति के समय तभी सुशोभित होती हैं जब वह अपने नेत्रों को उन्मीलित करती है।[2] मध्या नायिका नायक या अपने पति के आचरण से क्रुद्ध होकर तीन अवस्थाएँ प्राप्त करती है- धीरा,

---

1- मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा।

- दशरूपक 2/16

2- दशरूपक 2/16 की व्याख्या।

धीराधीरा एवं अधीरा । नायक के अपराध करने पर अर्थात् जब नायक अन्य नायिका से आसक्ति रखता है तब मध्या नायिका में सहज ही क्रोध उत्पन्न होता है । धीरा मध्या नायिका व्यंग्य-बाणों से नायक के हृदय को पीड़ा पहुँचाती है । धीराधीरा नायिका में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति होती है । वह रोती भी है तथा व्यंग्य भी करती है । तीसरी कोटि की अधीरा मध्या नायिका रोने के साथ-साथ नायक को कड़े वचनों से पीड़ित करने की चेष्टा करती है[1] ।

स्वकीया नायिका का तीसरा भेद प्रगल्भा है । मुग्धा एवं मध्या नायिका की अपेक्षा प्रगल्भा नायिका में यौवन का प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है, जिसके फलस्वरूप वह कामसम्बन्धी भावों में अत्यन्त उन्मत्त एवं लज्जा - रहित होती है । रतिक्रीड़ा में वह अत्यन्त आनन्द प्राप्त करती है एवं उसमें लीन हो जाती है[2] । अवस्थाओं का अनुसरण करते हुए धनञ्जय ने प्रगल्भा नायिका के पुनः तीन भेद किए हैं - गाढ़यौवना, भाव-प्रगल्भा एवं रतिप्रगल्भा । धनिक ने गाढ़यौवना की वृत्ति लिखते समय उसकी यौवन - अवस्था की इस प्रकार से व्याख्या की है कि गाढ़यौवना नायिका का यौवन विकसित है, नेत्र कानों तक फैले हुए हैं, उसकी भौंहें टेढ़ी हैं और वचनों में व्यंजना है । इस अद्भुत यौवन वाली नायिका की गति कुछ धीमी

1- धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।
छेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ।। - दशरूपक 2/16

2- यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना । - दशरूपक 2/18

होती है ।[1] भावप्रगल्भा नायिका नायक के निकट होने पर अथवा उसकी याद आने पर अत्यन्त भावमय हो जाती है । रतिप्रगल्भा नायिका अपनी सखियों के मध्य लज्जाहीन व्यवहार करती है एवं सुरतक्रीड़ा की व्याख्या अपनी सखियों से सहजता से करती है । नायक के अपराध करने पर या अन्य नायिका से प्रेम करने पर प्रगल्भा नायिका भी कुपित होती है तथा मुग्धा के समान उसके भी तीन भेद किए गए हैं - धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा । धीरा प्रगल्भा अपना क्रोध दो प्रकार से प्रकट करती है । प्रथमतः वह नायक को लज्जित करती है । द्वितीयतः सुरतक्रीड़ा में विरोध प्रकट करती है तथा अधीरा प्रगल्भा नायिका क्रोध में उन्मत्त होकर नायक को पीटती है और धीराधीरा प्रगल्भा नायिका का मध्या नायिका के समान ही व्यवहार होता है । वह व्यंग्य द्वारा नायक को फटकारती है ।[2]

मुग्धा के अतिरिक्त मध्या एवं प्रगल्भा के धनञ्जय ने तीन-तीन भेद किए हैं । मध्या एवं प्रगल्भा के तीनों भेदों में ज्येष्ठा और कनिष्ठा दो प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख दशरूपक में मिलता है ।[3] ज्येष्ठा एवं

1- दशरूपक 2/18 की धनिक वृत्ति ।

2- सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ।। - दशरूपक 2/19

3- द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता: ।
-दशरूपक 2/20 का पूर्वार्द्ध

कनिष्ठा दोनों नायिकाओं के एक ही नायक होने के कारण नायक के प्रति किया गया आचरण ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा की स्थितियों को विवेचित करता है। कभी-कभी ऐसा व्यवहार पाया जाता है कि वह नायक कनिष्ठा के प्रति प्रेम का प्रदर्शन वास्तविक रूप से करता है तथा ज्येष्ठा के प्रति केवल सहृदयता-पूर्ण व्यवहार ही करता है, किन्तु वास्तविक रूप से ऐसी स्थिति नहीं होती, क्योंकि दक्षिण नायक के लक्षण के समय यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि उसका प्रेम सभी से होता है।

नायिका के दूसरे भेद (परकीया) की व्याख्या करते हुए धनञ्जय ने बताया है कि यह दो प्रकार की हो सकती है - अविवाहित कन्या अथवा दूसरे व्यक्ति की परिणीता। फिर उन्होंने परिणीता का नाट्य में निषेध भी किया है किन्तु कन्या के प्रति अनुराग अंगीरस का भी अंग हो सकता है तथा कन्या के अनुराग वर्णन में कोई दोष नहीं हो सकता।[1] परकीया नायिका की कल्पना से समाज में व्याप्त कामसम्बन्धी प्रच्छन्न व्यापारों की ओर संकेत मिलता है। राजाओं के अन्तःपुर में इस तरह का प्रणय-व्यापार एक ऐतिहासिक सत्य है, किन्तु धनञ्जय द्वारा जन-सामान्य हेतु परिणीता का निषेध करना इस बात का संकेत देता है कि उन्मुक्त काम-व्यापार के कारण समाज में उच्छृंखलता व्याप्त होने की पर्याप्त, सम्भावनाएँ हैं, किन्तु कन्या के प्रति अनुराग की छूट देना इस बात को परिलक्षित करता है कि नायिका की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु ही नायक का प्रेमसम्बन्धी आचरण होता है। श्राङ्गारिक

1- अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित्।

-दशरूपक 2/20 का उत्तरार्द्ध

नाट्यों में प्रेम प्रमुख विषय है । ऐसी परिस्थितियों में नायिका का कन्या या पुत्री होना उसके चरम उद्देश्य को पूर्ण करता है । अस्तु, तात्पर्य यह है कि परिणीता (दूसरे की विवाहित स्त्री) के प्रति प्रेमाकर्षण समाज एवं शास्त्र के विरुद्ध है, इसे निषेधित करना न्यायोचित ही है ।

नायिका का तीसरा भेद साधारण स्त्री है, जिसे सामान्या या गणिका भी कहा गया है, जो कलाचतुर, प्रगल्भ एवं धूर्त होती है ।[1] ऐसी साधारण स्त्री वस्तुतः समाज में प्राचीन काल से ही उपभोग की वस्तु बनी है, क्योंकि उसके प्रेम का प्रदर्शन गुणरहित एवं गुणी दोनों ही व्यक्तियों से समान रूप से होता है । वास्तविक रूप से वह प्रेम का मात्र प्रदर्शन ही करती है और अर्थ ही अर्जित करना उसका प्रधान लक्ष्य है, क्योंकि जब तक किसी व्यक्ति के पास धन उपलब्ध होता है तभी तक वह उससे प्रेम करती है ।

दशरूपककार ने नायिकाओं के अवस्थागत भेद करते हुए आठ प्रकार की नायिकाएँ बताई हैं - स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका ।[2] इन समस्त आठों प्रकार की अवस्थाओं की विवेचना भरतप्रणीत मत की व्याख्या करते समय हम कर चुके हैं । दशरूपक में भी उसी के सदृश व्याख्याएँ की गई हैं ।

1- साधारण स्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ।

- दशरूपक 2/21।

2- दशरूपक 2/23

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि आचार्य धनञ्जय द्वारा किए गए वर्गीकरण की विचार पृष्ठभूमि भरत के वर्गीकरण के आधारभूत सिद्धान्तों के अनुरूप ही रही है। यद्यपि जैसा कि हम पहले कह चुके है कि भरत-सम्मत वर्गीकरण आचार्य धनञ्जय को मान्य नहीं है, तथापि वैचारिक पृष्ठभूमि की आन्तरिक अवस्था में गवेषणापूर्वक विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता दिखाई देता है कि नायिका-विषयक वर्गीकरण नायिका के प्रकृतिजन्य आङ्गिक सौष्ठव के विकास की प्रक्रिया या उसकी वय:सन्धि के अनुसार, प्रतिष्ठा के अनुसार, आचरण के अनुसार, उसकी मानसिक स्थिति के अनुसार एवं अवस्था के अनुसार ही धनञ्जय ने प्रस्तुत किया है। वस्तुत: यह भावभूमि भरत के मत के ही अनुरूप है, किन्तु दोनों आचार्यों के वर्गीकरण में भेद होने का कारण स्पष्टत: तत्कालीन स्त्री की सामाजिक स्थिति रही होगी।

धनञ्जय द्वारा किया गया वर्गीकरण नाट्य-प्रयोग हेतु नूतन सर्जनात्मक विकास था, क्योंकि धनञ्जय के दृष्टिकोण में मुख्यत: स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का व्यावहारिक पक्ष था जिसका उन्होंने यथोचित मूल्यांकन किया। वास्तव में यह वर्गीकरण नायक-नायिका के परस्पर सम्बन्ध, नायिका की अवस्था और नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर उसकी प्रतिक्रिया अथवा नायिका की प्रेमगत दशा के समीचीन मूल्यांकन पर आधारित है। स्वकीया नायिका का आदर्शात्मक स्वरूप तत्कालीन सामाजिक स्थिति का आकलन करने पर स्पष्ट होता है। धनञ्जय द्वारा परकीया नायिका का नाट्य-प्रयोग हेतु निषेध किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा युक्तिसंगत है क्योंकि परिणीता द्वारा अन्य नायक के प्रति किया गया प्रेम व्यवहार

न तो न्याय-सम्मत है और न ही शास्त्र और विधि के अनुरूप ही होता है तथा व्यावहारिक पक्ष में समाज पर उसका प्रभाव दूषित रूप में पड़ने की सम्भावना है, क्योंकि भारतीय समाज में सदैव ही आदर्शपरक मूल्यों को महत्त्व दिया गया है । ऐसी परिस्थिति में किसी भी उन्मुक्त व्यवहार की कल्पना करना समीचीन नहीं । अतएव धनञ्जय का मत इस दृष्टिकोण से अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्ध होता है । साधारण स्त्री अथवा गणिका या वेश्या अत्यन्त प्राचीन काल से ही समाज में विद्यमान रही है । इस विषय में भारतीय समाज एवं इतिहास में अनेकों उद्धरण विद्यमान हैं । साधारणतया संस्कृत-साहित्य में गणिका या वेश्या द्वारा भी उदात्त चरित्र की कल्पना की गई है किन्तु शास्त्रों द्वारा उनकी आलोचना भी की गई है । धनञ्जय द्वारा यह विभेद किया जाना सामान्य रूप से तत्कालीन समाज के व्यावहारिक पक्ष का आकलन सिद्ध होता है ।

यद्यपि धनञ्जय द्वारा किया गया विभेद सम-सामयिक स्थितियों एवं भरतकालीन विचार-भावभूमियों के अनुरूप उत्कृष्ट तो कहा जा सकता है, किन्तु यह एक विचार का विषय है कि प्राचीन काल में नारी को मात्र उपभोग की सामग्री ही समझा गया है । उसके प्रति किसी भी शास्त्र अथवा मनीषी ने न्यायिक दृष्टिकोण न अपनाते हुए उसे निम्न ही माना है । धनञ्जयकालीन सामाजिक स्थिति में भी यह परिवर्तन न हो सका । वे भी स्त्री के मात्र आंगिकसौष्ठव तथा वय:सन्धि के विन्यास के अनुरूप ही वर्गी-

---

करण कर सके हैं । इसमें स्त्री की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा उसके चरित्र का उदात्त पक्ष उजागर नहीं होता, जो कि वर्तमान सन्दर्भों में शास्त्रीय दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसका कोई भी मूल्यांकन नहीं हो सकता । अस्तु, हम कह सकते हैं कि धनञ्जय के द्वारा किया गया यह वर्गीकरण अपनी सम-सामयिक स्थितियों में एक गुरूतर कार्य था, किन्तु वर्तमान युग में यह मूल्यहीन ही सिद्ध होगा ।

नाटकलक्षणरत्नकोश के प्रणेता सागरनन्दी ने नायिकाओं का वर्गीकरण उनकी विभिन्न दशाओं के आधार पर ही किया है । वे धनञ्जय के द्वारा किए गए वर्गीकरण की अपेक्षा मात्र नायिकाओं के प्रिय से मिलन के आधार पर उसकी प्रेमगत क्या अवस्थाएँ होती हैं, उसी के आधार पर नायिकाओं का विभाजन करते हैं । वे कहते हैं कि जब नायिका का अपने प्रिय से मिलन नहीं हो पाता, तब दशाओं की भिन्नता के आधार पर नायिकाओं के आठ भेद हो जाते हैं - वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीनदयिता (पतिका) तथा अभिसारिका[1]। इन अवस्थागत भेदों की व्याख्या भरत और धनञ्जय के अनुरूप ही नाटकलक्षणरत्नकोश में मिलती है । सागरनन्दी द्वारा किये गये वर्गीकरण का भरत और धनञ्जय के वर्गीकरण से कुछ सीमा तक साम्य न रखना इस बात की ओर संकेत करता है कि नाटकलक्षणरत्नकोश के प्रणेता के विचार में नायिकाओं का आलम्बन श्रृङ्गारिक चेष्टाओं में किया है, उसी के फलस्वरूप नायिकाओं के यह अवस्थागत भेद होते हैं । अस्तु, निष्कर्षतः

1- नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ 239, प्रथम संस्करण, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी ।

हम यह कह सकते हैं कि नाटकलक्षणरत्नकोश में धनञ्जय या भरत के मत का ही पिष्टपेषण किया गया है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नायिकाओं का वर्गीकरण अत्यन्त तार्किक एवं स्पष्ट रूप से किया है। वे कहते हैं कि नायिकाएँ चार प्रकार की होती हैं - कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और वेश्या। वेश्या ललितोदात्त ही होती है किन्तु कुलजा पूर्णरूपेण उदात्त होती है। दिव्या और क्षत्रिया धीरा, ललिता और उदात्ता तीन प्रकार की होती है[1]। पुनश्च, कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और गणिका इन चारों नायिकाओं को आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र ने पुनः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा इन तीन भेदों में विभक्त किया है। वे कहते हैं कि इन चारों नायिकाओं के प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने के कारण कुल मिलाकर 12 भेद हो जाते हैं[2]। मुग्धा, मध्या, एवं प्रगल्भा अन्य उपभेद धनञ्जय की भाँति नाट्यदर्पण में नहीं मिलते। इन तीनों की व्याख्याएँ दशरूपक के अनुरूप ही की गई हैं। अन्य प्रकार से किए गए प्रसिद्ध भेदों में नायिकाओं की प्रेमगत दशाओं के आधार पर आठ

1- नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी।
अन्तिमा ललितोदात्ता पूर्वोदात्ता त्रिधा परे।।

-नाट्यदर्पण, चतुर्थ विवेक, सूत्र 255, प्रथम संस्करण, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

2- मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः।

-नाट्य दर्पण, चतुर्थ विवेक, सूत्र 257, प्रथमसंस्करण, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

भेद नाट्यदर्पण में भी मिलते हैं, जिनकी व्याख्याएँ भरत के अनुरूप ही की गई हैं । फलतः हम यह कह सकते हैं कि नाट्यदर्पणकार आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भरतप्रणीत एवं धनञ्जय के द्वारा किए गए वर्गीकरण में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए नायिकाओं का वर्गीकरण किया है । यहाँ पर यह विचारणीय है कि भरत द्वारा किए गए चार भेद {दिव्या, नृपपत्नी, कुलजा और वेश्या} एवं धनञ्जय द्वारा प्रणीत स्वकीया, परकीया एवं सामान्या में ही अपने भी वर्गीकरण को तिरोहित करने का नाट्यदर्पणकार का यह अभिनव प्रयत्न था । अस्तु, रामचन्द्रगुणचन्द्र का मत धनञ्जय की अपेक्षा नायिकाओं के वर्गीकरण को और अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्यात करता है, किन्तु धनञ्जय द्वारा किए गए कुछ उपभेद नाट्यदर्पणकार के द्वारा उपेक्षित रहे हैं ।

आचार्य रुद्रट ने काव्यालङ्कार में नायिकाओं का विभाजन करते हुए धनञ्जय के ही मत का अनुसरण किया है । साधारणतया नायिकाओं के तीन प्रकार आचार्य रुद्रट ने बताए हैं- स्वकीया, परकीया एवं साधारणस्त्री । स्वकीया नायिकाओं के उन्होने 13 भेद किए हैं । परकीया नायिका के 2 भेद किए हैं । उन्होने वेश्या अथवा साधारणस्त्री के कोई भी उपभेद नहीं किए हैं । इस प्रकार से वे 16 प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख करते हैं, किन्तु पुनः नायिकाओं की आठ अवस्थाओं के कारणवश यह भेद 128 तक पहुँच जाते हैं । फिर वे उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन

प्रकार के और भेदों की कल्पना करते हैं । इस प्रकार से कुल 384 प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख काव्यालङ्कार में मिलता है[1] । काव्यालङ्कार के अनुशीलन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि आचार्य रुद्रट ने धनञ्जयप्रणीत मत को ही विस्तार से वर्णित करने का यत्न किया है ।

भावप्रकाशन के रचयिता शारदातनय ने आचार्य रुद्रट के ही मत को पुनरुक्त किया है । उनके द्वारा किसी नूतन प्रकार की व्याख्या अथवा वर्गीकरण भावप्रकाशन में उपलब्ध नहीं होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि नायिकाओं का पूर्वोक्त वर्गीकरण नाट्य में शास्त्रीय रूप में सर्वसम्मति से स्वीकृत हो चुका होगा, इसी कारणवश उन्होंने सामान्य रूप से अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का ही उल्लेख किया है ।

आचार्य विश्वनाथ नायिकाओं का वर्गीकरण धनञ्जय एवं पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कुछ विस्तृत रूप से करते हैं । यद्यपि धनञ्जय के अनुरूप ही उन्होंने तीन प्रकार के प्रमुख भेद स्वीकार किए हैं तथापि उनके द्वारा प्रतिष्ठित उपभेदों में धनञ्जय से कुछ अन्तर है । सामान्यतया स्वकीया नायिका के भेद एवं उपभेद दशरूपक के ही अनुरूप है, किन्तु मध्या एवं प्रगल्भा के उपभेदों में कुछ अन्तर है । वे मध्या के भेद करते हुए पाँच प्रकार

1- पुनरन्यास्तास्तिस्रः सन्त्युत्तममध्यमाधमाभेदात् ।
इति सर्वा एवैताः शतत्रयं चतुरशीतिश्च ।।

—काव्यालङ्कार, 12/40.

की मध्या नायिका की कल्पना करते हैं -

विचित्रसुरता, प्रारूढस्मरा, प्रारूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता[1]।

प्रगल्भा नायिका के भी वे निम्न भेद करते हैं - स्मरान्धा, गाढतारुण्या, समस्तरतकोविदा, भावोन्नता, दरव्रीडा और आक्रान्तनायका[2]। परकीया एवं साधारणस्त्री के भेदसामान्य रूप से पूर्वोक्त रूप में ही किए गए हैं एवं नायिकाओं के अवस्थागत प्रसिद्ध आठ भेदों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। यद्यपि आचार्य विश्वनाथ ने पूर्ववर्ती आचार्यों के ही मतों को पुनःप्रतिष्ठित किया है, किन्तु साहित्यदर्पणकार की व्याख्याएँ अपेक्षाकृत अधिक सुस्पष्ट रूप में व्याख्यात हुई हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि साहित्यदर्पणकार का मत भरत तथा भरत के परवर्ती आचार्यों की भावभूमि को ही विस्तृत करता है।

रसमञ्जरी में भी भानुदत्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का ही आकलन किया है, किन्तु नायिकाओं का भेद करते समय उन्होंने नायिकाओं

1- मध्या विचित्रसुरता प्रारूढस्मरयौवना ।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ।।
-साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 59.

2- स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ।।
-साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक 60.

का तीन प्रकार के उपभेद किये हैं - अंकुरित यौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा। उन्होंने यह नूतन परिवर्तन नायिकाओं की अवस्था, दशा एवं गुण के आधार पर किया है । रसमञ्जरी में पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा नायिका-विभाजन पर अधिक विस्तृत एवं गवेषणापूर्ण विचार किया गया है । यद्यपि उनकी विचार-भूमि में पूर्ववर्ती आचार्यों के ही मतों का निष्पादन होता रहा किन्तु अवस्था और गुणों के फलस्वरूप उन्होने नायिका-विभाजन की नूतन सर्जना की है ।

निष्कर्ष -

परवर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित उपर्युक्त नायिका-विभाजन की विवेचना से स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत-सम्मत वर्गीकरण का उत्तरोत्तर विकास, कालक्रम के दृष्टिकोण से परवर्ती आचार्यों के मानस-पटल पर उभरता रहा है, जिसे उन्होंने व्यावहारिक शास्त्रीय रूप प्रदान किया है । यह नायिकाओं का वर्गीकरण पर्याप्त अन्तराल तक संस्कृत-मनीषियों की विचार-प्रेरणा न बन सका, किन्तु दसवीं शताब्दी के प्रमुख संस्कृत-नाट्य-मनीषी आचार्य धनञ्जय ने भरत-सम्मत मत को नूतन वर्गीकरण सहित अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत करके नायिकाओं के वर्गीकरण की परम्परा को आगे बढ़ाया । उन्होने नायिकाओं के वर्गीकरण की विशिष्ट और विस्तृत व्याख्या दशरूपक में की, उनका दृष्टिकोण भरतकालीन मत से भिन्न एक मौलिक आधार प्रस्तुत करने में सक्षम था, जो भविष्य में समस्त परवर्ती आचार्यों

के लिए अनुकरणीय भी रहा । यद्यपि उनके मत की अपेक्षा आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र द्वारा प्रतिपादित विवेचना भरत एवं धनञ्जय के मत के समन्वयात्मक दृष्टिकोण सहित विस्तृत एवं सुस्पष्ट रूप से नाट्यदर्पण में परिलक्षित होता है, क्योंकि भरत द्वारा किए गए वर्गीकरण (दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री तथा गणिका) को आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने स्वकीया, परकीया और सामान्या में समन्वित करने की चेष्टा की है । परवर्ती आचार्य रुद्रट, शारदातनय, आचार्य विश्वनाथ एवं भानुदत्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों के उपर्युक्त मतों का ही पुनरवलोकन किया है । वे नायिका - विभाजन में कोई नूतन दृष्टि देने में समर्थ नहीं रहे हैं । अस्तु, भरत-एवं परवर्ती आचार्यों के द्वारा सम्मत मतों के सम्यक् अनुशीलनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नायिकाओं के वर्गीकरण की आधारभूमि पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से कई प्रश्न उभरते हैं - प्रथमतः, भारतीय संस्कृत-नाट्यसाहित्य में नायिका-विभाजन सामाजिक, शारीरिक, मानसिक एवं प्रेमगत अवस्थाओं को आधार मानते हुए किया गया प्रतीत होता है । शारीरिक विकासक्रम में तथा मानसिक दशाओं के अनुरूप ही उनके नामकरण किए गए हैं । सामाजिक आधार पर भी उन्हें विभाजित किया गया है । सामान्य रूप से प्राचीनकाल एवं मध्यकाल में नायिकाओं से उच्च वर्ग के सामाजिक लोग ही सम्बन्धित रहे हैं, किन्तु जन-सामान्य से नायिकाओं का कोई विशेष सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि राजदरबारों के अन्तःपुर के रागरंग में तो उनका स्थान स्वीकृत था, किन्तु

समाज के गृहस्थ जीवन में उन्हें स्वीकार नहीं किया गया, कारण, इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि नायक वर्ग की अपेक्षा नायिकाओं की सामाजिक पवित्रता सदैव संदिग्ध रही है । द्वितीयतः, उनके मानसिक परिवर्तन के कारण विभाजन के समय उनकी स्थिति अत्यन्त जटिल हो गई, क्योंकि नायक-भेद की अपेक्षा नायिका- विभाजन अत्यन्त विस्तृत रूप से सहस्र संख्या में उपलब्ध होता है । कितने आश्चर्य का विषय है कि मानव-शरीर चाहे वह नर हो या नारी, समाज में कामपीड़ा, विभिन्न मनोदशाओं, भाव-प्रवणता एवं बुद्धि-प्रवणता में अत्यधिक समानता रखता है । ऐसी परिस्थिति में भी भारतीय नाट्य-शास्त्र के लिए यह अत्यन्त दुःखद स्थिति है कि नायिकाओं को नायक की अपेक्षा सदैव निम्न कोटि का पात्र समझा गया है । यद्यपि भरत एवं परवर्ती आचार्यों ने नायिकाओं को अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण से देखा है - (मात्र शृङ्गार रस के अवलम्बन हेतु) तथापि यह अधुनातन शोध का विषय है कि इस सीमित क्षेत्र को और अधिक विकसित एवं विस्तृत किया जाए, तथा यह भी विचारणीय है कि तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक दशाओं के फलस्वरूप उत्पन्न विचारधारा के कारण संस्कृत- आचार्यों ने नायिकाओं के स्वरूप को क्यों परिसीमित किया ? आदि काल में काव्य और नाट्य संरचना अभिजातवर्ग के लिए ही होती थी तथा उस समय नारियों को जीवन-संघर्ष में अत्यधिक नहीं पड़ना पड़ता था, किन्तु वर्तमान सन्दर्भों में नायिकाओं के वर्गीकरण में शृङ्गार-रस को ही अवलम्बन-रूप में स्वीकार करना न्यायोचित नहीं है, क्योंकि वर्तमान युग में नारियों को पुरुषों के सदृश ही अधिकार

प्राप्त हैं, इसलिए पूर्ववर्ती वर्गीकरण को आज के सन्दर्भों में अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता । आज पुनः नूतन वर्गीकरण की आवश्यकता है, क्योंकि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि पुरुष तथा स्त्री की प्रवृत्ति में विशेष अन्तर नहीं होता है । युद्ध, राजनीति, समाजसुधार एवं धार्मिक आन्दोलनों जैसे विविध क्षेत्रों में व्यस्त स्त्री एवं पुरुषों के चरित्र एवं मनोविज्ञान में भी अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता, क्योंकि स्त्री तथा पुरुष दोनों के साहचर्य से व्युत्पन्न भाव एवं बुद्धिप्रवणता एक ही प्रकार की होती है । फलतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन नायिका- विभाजन जो तत्कालीन परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था, वह आज के सन्दर्भों में एक नूतन सर्जनात्मक दृष्टिकोण हेतु अपेक्षित है ।

" प्रायोगिक पक्ष "

भरत एवं परवर्ती आचार्यों के द्वारा किए गए वर्गीकरण के आधार पर अब हम कुछ प्रसिद्ध नायिकाओं के चरित्रों की शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करेंगे -

महाकवि कालिदास के समस्त नाटक नाट्यशास्त्र के समस्त नियम-नियामकों का यथार्थ अनुगमन करते हैं ।

नायिका शकुन्तला का शास्त्रीय मूल्याङ्कन

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार -

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में शकुन्तला का आरम्भिक रूप एक ऋषिकन्या का ही है तथापि सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर शकुन्तला नृपत्नी कही जा सकती है। उसकी जननी मेनका है। देवसुन्दरी मेनका तथा ऋषि विश्वामित्र की पुत्री होने के कारण उसे प्रछन्न रूप से देवकन्या स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि मेनका देवलोक से ही आई थी, जिसे राजा दुष्यन्त अपने इस कथन से स्वीकार करता है - परस्ताज्ज्ञायत एव। सर्वथाऽप्सरसः-संभवैषा[1]। पुनश्च, शकुन्तला में दिव्यतत्त्व होने का प्रमाण अभिज्ञानशाकुन्तल के पाँचवे अध्याय में पुरोहित के कथन से भी मिलता है -

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा -
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम।[2]

किन्तु सप्तम अङ्क में जब शकुन्तला दुष्यन्त के द्वारा पुनः स्वीकार कर ली जाती है,[3] तो वह नृपत्नी ही कही जाएगी।

1- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क

2- वही 5/30

3- ----------------पुत्रवती शकुन्तला तच्छापनिवृत्तौ स्मृतिमता दुष्यन्तेन प्रतिग्रहीतेति।
- अभिज्ञानशाकुन्तल, सप्तम अङ्क

सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर यदि शकुन्तला की अभिजातवर्गीय विशिष्टता पर ध्यान दिया जाए तो महाकवि ने उसे एक तरफ प्रच्छन्न रूप से दिव्या नायिका के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है तो दूसरी ओर नृपपत्नी के रूप में प्रतिष्ठित किया है । वस्तुतः यह स्थिति कालिदास के मानसिक-व्यापार की एक अभिनव कल्पना है । उन्होंने नायिका शकुन्तला को प्रत्येक ओर से प्रथम श्रेणी की नायिका सिद्ध करने की चेष्टा की है । अतएव सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर शकुन्तला को एक अभिजातवर्गीय नायिका स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु अपने अन्य गुणों के कारण वह अभिजातवर्गीय होते हुए भी सभी को प्रिय तथा ग्राह्य है ।

आचरण की शुद्धता का आधार -

आचरण की शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर नायिका शकुन्तला कुलीनांगना तथा आभ्यन्तर कोटि में आती है । वस्तुतः बाह्या और बाह्याभ्यन्तरा प्रकार की नायिकाओं का प्रवेश राजाओं के अन्तःपुर में निषिद्ध होता है, किन्तु कुलीनांगना अथवा दिव्या का प्रवेश अन्तःपुर में हो सकता है । इसी कारण से महाकवि ने शकुन्तला को कुलीनांगना और आभ्यन्तर कोटि की नायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है । शकुन्तला के रूप-दर्शन के फलस्वरूप दुष्यन्त काम के वशीभूत हो उठता है ।[1] नाट्य-शास्त्र के नियम के

1- अभिज्ञानशाकुन्तल 1/19-20

अनुसार कामसमुत्पत्ति रूप, सौन्दर्य के श्रवण, दर्शन तथा अंगलीलापूर्ण चेष्टाओं से व्युत्पन्न होती है ।[1]

निष्कर्षतः आचरण की शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास ने नायिका शकुन्तला को आचरण से पूर्णरूपेण शुद्ध सिद्ध किया है, क्योंकि यदि शकुन्तला आचरण से परिशुद्ध नहीं होती तो वह राजर्षि दुष्यन्त के लिए वरण करने योग्य नहीं होती । अतएव महाकवि ने नायक के सदृश गुणों वाली वं आचरण से शुद्ध नायिका शकुन्तला के चरित्र को विकसित करने में पर्याप्त रूप से ध्यान दिया है ।

कामदशाकी अवस्था का आधार -

आचार्य भरत ने कामदशा की अवस्था के आधार पर आठ भेदों का विवेचन अपने नाट्य-शास्त्र में किया है । इसी आधार पर महाकवि कालिदास ने शकुन्तला में तीन अवस्थाओं का आरोपण किया है - विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका तथा प्रोषितभर्तृका । अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में महाकवि कालिदास ने नायिका शकुन्तला की विरह-वेदना को अभिव्यक्त किया है , जिसका प्रमाण प्रियंवदा के इस कथन से मिलता है -"अनुसूये !

1- नाट्यशास्त्र 24/148

अनुसार कामसमुत्पत्ति रूप, सौन्दर्य के श्रवण, दर्शन तथा अंगलीलापूर्ण चेष्टाओं से व्युत्पन्न होती है ।[1]

निष्कर्षतः आचरण की शुद्धता एवं अशुद्धता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाकवि कालिदास ने नायिका शकुन्तला को आचरण से पूर्णरूपेण शुद्ध सिद्ध किया है, क्योंकि यदि शकुन्तला आचरण से परिशुद्ध नहीं होती तो वह राजर्षि दुष्यन्त के लिए वरण करने योग्य नहीं होती । अतएव महाकवि ने नायक के सदृश गुणों वाली वं आचरण से शुद्ध नायिका शकुन्तला के चरित्र को विकसित करने में पर्याप्त रूप से ध्यान दिया है ।

<u>कामदशाकी अवस्था का आधार -</u>

आचार्य भरत ने कामदशा की अवस्था के आधार पर आठ भेदों का विवेचन अपने नाट्य-शास्त्र में किया है । इसी आधार पर महाकवि कालिदास ने शकुन्तला में तीन अवस्थाओं का आरोपण किया है - विरहोत्कण्ठिता, स्वाधीनभर्तृका तथा प्रोषितभर्तृका । अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क में महाकवि कालिदास ने नायिका शकुन्तला की विरह-वेदना को अभिव्यक्त किया है, जिसका प्रमाण प्रियंवदा के इस कथन से मिलता है -"अनुसूये !

1- नाट्यशास्त्र 24/148

पश्य तावत् । वाम हस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम्?" नाटक के तृतीय अङ्क में नायिका शकुन्तला राजा दुष्यन्त के मुख से स्वयं ही स्वाधीनभर्तृका नायिका के रूप में वर्णित होती है । दुष्यन्त इस स्थल पर कहता है कि - अनेक स्त्रियों के होते हुए भी मेरे वंश की दो ही प्रतिष्ठाएँ हैं - समुद्र रूपी मेखला से युक्त पृथ्वी और तुम्हारी यह सखी (शकुन्तला)[1]। इसी भाँति दुष्यन्त से शकुन्तला का पुनर्मिलन जब सप्तम अङ्क में होता है तो वह पुनः स्वाधीनभर्तृका नायिका हो जाती है ।[2] अभिज्ञानशाकुन्तल के पञ्चम अङ्क के अनुसार जब वह शार्ङ्गरव एवं दुष्यन्त के द्वारा तिरस्कृत होती है,[3] तब वह मारीच ऋषि के आश्रम में प्रोषितभर्तृका जैसा जीवन व्यतीत करती है । इसी भाँति सप्तम अङ्क में राजा के इस कथन के द्वारा भी उसका प्रोषितभर्तृका होना सिद्ध होता है - "अरे, यही वह शकुन्तला है जो कि दो मलिन वस्त्रों को पहने हुए, व्रत-पालन के कारण क्षीण मुख वाली, एक वेणी को धारण किए हुए, पवित्र आचरण वाली यह मुझ अति निष्ठुर पति के लिए अति लम्बे विरह-व्रत को धारण कर रही है ।"[4]

निष्कर्षतः नायिका शकुन्तला की प्रेमगत दशाओं का आकलन करने पर यह ज्ञात होता है कि महाकवि ने उसे एक आदर्श, लज्जाशील,

---

1- अभिज्ञानशाकुन्तल, 3/17

2- अभिज्ञानशाकुन्तल, सप्तम अङ्क

3- वही, 5/27-28

4- वही, 7/21

परिपरायण नायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है । स्वाधीनभर्तृका नायिका वास्तव में समाज में एक उत्कृष्ट कोटि की आदर्श नायिका है, क्योंकि पति को अधीन रखने वाली नायिका का स्थान सम्माननीय ही होता है तथा उसके लिए दुःखानुभूति सम्भव नहीं है । नाट्य में रसानुभूति की महत्ता की दृष्टि से महाकवि कालिदास ने संयोग श्रृङ्गार की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए नाटक के मध्य में शकुन्तला को विरहोत्कण्ठिता नायिका के रूप मे प्रतिष्ठित किया है और तब विप्रलम्भ श्रृङ्गारउपलब्ध होने के बाद संयोग श्रृङ्गार की प्रस्तुति की है । वस्तुतः, संयोग श्रृङ्गार का मूल्यांकन सम्यक् रूप से तभी किया जा सकता है, जब कि विप्रलम्भ श्रृङ्गार की भी निष्पत्ति साथ-साथ ही हो । अतएव हम कह सकते हैं कि एक दृष्टिकोण से तो महाकवि कालिदास ने समाज के आदर्शात्मक मूल्य को स्थापित किया है तो दूसरी ओर नाट्य की रसानुभूति को भी दृष्टि में रखा है ।

अङ्गरचना और अन्तःप्रवृत्ति का आधार -

महाकवि कालिदास ने नायिका शकुन्तला को एक उदात्त एवं आदर्श नारी के रूप में विवेचित किया है । शकुन्तला का मानसिक, शारीरिक सौन्दर्य असीम है । उसके सौन्दर्य की गाथा सुनकर दुष्यन्त उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हो उठता है ।[1] उसके लावण्य को देखकर राजा मन्त्रमुग्ध हो उठता है,

---

1- कथमियं सा कण्वदुहिता । असाधुदर्शी खलु तत्रभवान् । काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते । - अभिज्ञान शाकुन्तल, प्रथम अङ्क ।

उसके लावण्य को देखकर स्वतः आकृष्ट हो उठता है, क्योंकि उसके सौन्दर्य में नैसर्गिकता है और उसके अंगों में व्याप्त लावण्य असाधारण कोटि का है ।[1] शकुन्तला गौरवर्णा है और उसके शरीर में यौवन-चिह्न स्पष्ट रूप से झलक रहे हैं । वस्तुतः शकुन्तला का शरीर अत्यन्त सुकुमार लता की भाँति है, उसका अधर किसलय की भाँति है तथा उसके शरीर में कुसुम की भाँति लुभावना यौवन अठखेलियाँ कर रहा है ।[2] वास्तविकता तो यह है कि ईश्वर की सृष्टि में वह विलक्षण स्त्री-रत्न है एवं विधि की नवकल्पना - प्रसूता है ।[3]

शकुन्तला की अन्तःप्रवृत्ति अत्यन्त उच्चकोटि की है । उसमें शालीनता का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है । वह सुशील और लज्जाशील है । उसके हृदय में दुष्यन्त के साहचर्य से काम-भाव उत्पन्न तो होता है,[4] किन्तु उसकी लज्जाशील प्रवृत्ति उसे ऐसा नहीं करने देती । उसका प्रकृति से घनिष्टतम सम्बन्ध है । आश्रम के वृक्षों, वनस्पतियों, पशुओं और पक्षियों के प्रति उसके हृदय में अपार ममत्व ।[5] उसे प्रकृति से अगाध प्रेम होने के कारण

1- अभिज्ञान शाकुन्तल, 1/18,21,26

2- वही 1/21

3- वही 2/9

4- किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।
-अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रथमअङ्क।

5- न केवलं तातनियोग एव, अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु ।
-अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रथम अङ्क ।

आश्रम से विदा होते समय वह अपनी सखियों की भाँति आश्रम के वृक्षों तथा लताओं इत्यादि से भी विदा लेती है ।

शकुन्तला प्रथम श्रेणी की पतिव्रता पत्नी है । दुष्यन्त का वियोग उसके लिए असहनीय वेदनायुक्त है । वह प्रेम मे इतनी विरहोत्कण्ठित है कि दुर्वासा ऋषि के शाप का भी उसे आभास नहीं होता । दुष्यन्त के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी वह अपने भाग्य को कोसती है, किन्तु अपने पति को दोषी नहीं ठहराती ।[1]

नायिका शकुन्तला नृत्य, गीतादि में भी कुशल है । राजा के लिए प्रेमपत्र लिखकर वह अपनी गीतनिपुणता का तथा वृक्षों को सींचते समय नृत्य कुशलता का परिचय देती है ।

फलतः हम यह कह सकते हैं कि आङ्गिकसौष्ठव एवं अन्तःप्रवृत्ति के आधार पर शकुन्तला अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि की नायिका है । मधुरभाषिणी एवं काम के प्रति अभिज्ञ शकुन्तला यदि राजा दुष्यन्त से गन्धर्व- विवाह नहीं करती, तो सम्भवतः कोई भी विचारवान् व्यक्ति उसकी चारित्रिक दुर्बलता पर आक्षेप नहीं कर पाता । अस्तु, यह कहाजा सकता है कि यद्यपि शकुन्तला में गन्धर्व-विवाह करने के कारण चरित्रगत-दोष का आरोपण किया जा सकता है,

---

1- उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः । नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखमासीद् येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।
- अभिज्ञानशाकुन्तल, सप्तम अङ्क ।

तथापि मानवीय प्रवृत्ति और उसके प्रकृतिस्थ गुणों के कारण काम के वशीभूत होना व्यक्ति की नियति ही कही जा सकती है ।

प्रकृतिगत आधार -

प्राकृतिक भेद के अनुसार शकुन्तला उत्तम प्रकृति की नायिका है, क्योंकि वह अपने प्रियजनों के साथ सदैव प्रेमपूर्ण व्यवहार करती है । वह अदीर्घरोषा है तथा गीत, नृत्यादि में कुशल है । कलाप्रिय होने के कारण उद्यान में शोभा, वृक्ष-प्रदर्शनी आदि का महोत्सव मनाती है । ये उसकी उत्तम प्रकृति को ही प्रदर्शित करने वाले उदाहरण हैं ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नायिका शकुन्तला अन्तःसौन्दर्य और बाह्यसौन्दर्य का सुन्दर समन्वय है । महाकवि ने उसे अपनी अभिनव कल्पना के द्वारा भरतसम्मत आधार पर सम्पूर्ण साहित्य-जगत की एक अलौकिक एवं विलक्षण गुण-समन्वित नायिका के रूप में चित्रित किया है । वह अपने उत्तम गुणों के द्वारा प्रेमिका से आरम्भ होकर देवी-पद तक पहुँच गई है ।

नायिका उर्वशी का शास्त्रीय मूल्याङ्कन

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार -

महाकवि कालिदास ने नायिका उर्वशी की सामाजिक प्रतिष्ठा को उत्कृष्ट रूप में दर्शाने की चेष्टा की है । ऋषि नारायण की जंघा से उत्पन्न होने के कारण उर्वशी को दिव्य रूप से उत्पन्न स्वीकार किया जा सकता है ।[1] यद्यपि नायिका उर्वशी दिव्य रूप से उत्पन्न थी, तथापि मानवीय संवेदनाओं से युक्त होने के कारण वह राजा पुरूरवा पर आसक्त है तथा नृप-पत्नी के रूप में भी प्रतिष्ठित होती है ।[2] स्वर्ग में इन्द्र के राज-दरबार में नृत्यांगना होने के कारण उसे गणिका भी कहा जा सकता है । महाकवि ने नायिका उर्वशी को दिव्या, नृपपत्नी और गणिका तीनों ही रूप में प्रतिष्ठित किया है । दिव्य-वेषधारिणी गणिका राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकती है,[3] इस कारणवश महाकवि ने नायिका उर्वशी को दिव्या गणिका के रूप में प्रस्तुत किया है । इसका दूसरा कारण यह है कि दिव्या नायिका में नृपपत्नी के सदृश ही गुण विद्यमान होने चाहिए । अस्तु, वह दिव्या होने के साथ-साथ नृपपत्नी भी है ।

1- विक्रमोर्वशीयम्, 1/10

2- नारद -----इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति ।

- विक्रमोर्वशीयम्,पञ्चम अङ्क ।

3- दिव्यवेश्याङ्गनानां हि राज्ञा भवति सङ्गमः ।

- नाट्यशास्त्र 24/154

आचरण की शुद्धता का आधार -

आचरण की शुद्धता के आधार पर नायिका उर्वशी गणिका होने के कारण बाह्य कोटि की नायिका कही जा सकती है । जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि दिव्यस्वरूप युक्त गणिका का राजा के अन्तःपुर में प्रवेश वर्जित नहीं होता, इसी कारणवश राजर्षि के अन्तःपुर में उसका प्रवेश सम्भव हुआ । आचरण की परिशुद्धता के कारण ही वह नृपपत्नी बन सकी ।

कामदशा की अवस्था का आधार -

कामगत दशाओं के आधार पर नायिका उर्वशी अभिसारिका एवं स्वाधीनभर्तृका के रूप में प्रतिष्ठित हुई है । नाटक के द्वितीय अङ्क में उर्वशी की सखी चित्रलेखा उससे प्रश्न करती है कि "क्या तुम राजा पुरूरवा से मिलने जा रही हो ?" तो प्रत्युत्तर में उर्वशी कहती है - मैंने लज्जा त्यागकर अपने हृदय में यही स्वीकार कर लिया है । ‡अर्थात् मैं उससे मिलने जा रही हूँ ।‡" पुनश्च, तृतीय अङ्क में स्वयं उर्वशी के कथन से उसके अभिसारिका होने का प्रमाण मिलता है । वह कहती है - "हला चित्रलेखे ! अपि रोचते तेऽयं ममाल्पाभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः ।"[1] महाकवि ने उर्वशी को पञ्चम अंक में स्वाधीनभर्तृका नायिका के रूप में प्रतिष्ठित

1- विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अङ्क

किया है, उर्वशी का यह रूप अप्सराओं के इस कथन से स्पष्ट होता है - "दिष्ट्या प्रियसखी पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण च वर्धते[1] ।" फलत: अवस्थागत भेदों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास इस नाटक की घटना-क्रिया-व्यापार के द्वारा सामाजिकों के हृदय में शृङ्गार रस की अन्तिम रस-चर्वणा कराने में सक्षम हुए हैं, क्योंकि संयोग और वियोग शृङ्गार का एकत्व सामाजिकों के हृदय में लिप्तता और निर्लिप्तता का समा-भाव उत्पन्न करता है । वस्तुत: नायिकाओं का वर्गीकरण शृङ्गार रस के अवलम्बन रूप में होने के कारण उसकी उत्कृष्टता की सिद्धि रस के अन्तिम बिन्दु तक निष्पत्ति के फलस्वरूप होता है, जिसे महाकवि सरलता, सहजता और सुबोधता के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम हैं । नायिका उर्वशी एक तरफ अभिसरण करती है अर्थात् उसके मन में नायक से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा है तो दूसरी ओर अन्त में वह स्वाधीनभर्तृका होकर सामाजिक स्थितियों के अनुकूल एक आदर्शात्मक मूल्य स्थापित करती है ।

अङ्गरचना और अन्त:प्रवृत्ति का आधार -

नायिका उर्वशी दैवी और मानवीय सम्पदा से युक्त एक ऐसी नारी है जो स्वर्गीय सुखों के साथ मानवीय सहृदयता तथा भावनाओं से युक्त

1- विक्रमोर्वशीयम्, ~~तृतीय अङ्क~~ पञ्चम अङ्क ।

है । वह अपूर्व सौन्दर्यशालिनी है । इसी कारणवश तो रम्भा ने पार्वती के भी सौन्दर्य से अधिक उर्वशी के रूप-माधुर्य की प्रशंसा की है[1] । राजा पुरूरवा स्वयं उसके सौन्दर्य को देखकर अभिभूत है[2] ।

उर्वशी अत्यन्त लज्जावती नायिका है । राजा से प्रथम मिलनोपरान्त वह राजा से लज्जावश स्वयं विदा न माँगकर अपनी सखी चित्रलेखा से विदा लेने को कहती है[3] । उसमें मानवीय पक्ष अत्यन्त उजागर हुआ है, तभी वह राजा से प्रथम मिलन में ही प्रेमासक्त होकर स्वर्ग जाते हुए भी अपनी वैजयन्तिका को बहाने से उलझा कर फिर से राजा को देखती है । दिव्य गुणों से सम्पन्न होने पर भी वह मानवीय गुण का प्रकटीकरण उस समय करती है, जब वह राजा पुरूरवा की रानी औशीनरी से अनुमति लेकर ही राजा पर अपना अधिकार मानती है । उर्वशी शील एवं सदाचार-सम्पन्न कुलांगना है । वह सभी का यथायोग्य आदर करती है । अस्तु, अन्तःप्रवृत्ति और अङ्गरचना के अनुसार नायिका उर्वशी श्रेष्ठ कोटि की नायिका सिद्ध होती है ।

1- ------------प्रत्यादेशो रूपगर्वितायाः श्रीगौर्याः अलंकारः स्वर्गस्य सा नः प्रियसख्युर्वशी कुबेरभवनान्निवर्तमाना केनापि दानवेन चित्रलेखा द्वितीया अर्धपथ एव एव बन्दिग्राहं गृहीता ।

-विक्रमोर्वशीयम्, प्रथम अङ्क

2- विक्रमोर्वशीयम् 1/10, 2/3, 4/20,21,22,23,34,42,.

3- विक्रमोर्वशीयम्, प्रथम अङ्क के 17वें श्लोक के बाद उर्वशी संवाद तथा द्वितीय अङ्क में उर्वशी संवाद द्रष्टव्य ।

प्रकृतिगत आधार -

प्रकृतिगत आधार पर नायिका उर्वशी उत्तम प्रकृति की गुण-सम्पन्न नारी है । वह अपने प्रियजनों से अत्यन्त प्रेमपूर्ण तथा अन्य वरिष्ठ लोगों से आदरपूर्ण व्यवहार करती है । वह अत्यन्त उदार तथा ईर्ष्यारहित है । तभी तो वह राजा पुरूरवा की रानी देवी का तेज इन्द्राणी के तुल्य मानती है और तब चित्रलेखा उसके ईर्ष्यारहित व्यवहार से अभिभूत होती है[1]।

उपर्युक्त शास्त्रीय समीक्षा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाकवि कालिदास द्वारा नायिका उर्वशी को समस्त नाटकीय गुणों के अत्यन्त सूक्ष्मतम ढंग से उद्घाटित करने का अभिनव प्रयत्न किया गया है, क्योंकि नायिका उर्वशी शास्त्रीय समीक्षाओं की प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ कोटि की नायिका सिद्ध होती है । यह महाकवि का बौद्धिक चातुर्य ही था, जो कि उन्होंने स्वर्ग की देवी अप्सरा को मानवीय बोध के सामंजस्य के साथ व्याख्यात किया है । प्रत्येक स्थान पर नायिका उर्वशी अपने चरित्र से अत्यन्त उत्तम और उदात्त भावों का सम्प्रेषण करती है, जो कि उसकी श्रेष्ठता का प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

1- उर्वशी-हला स्थाने खलु इयं देवीशब्देनोपचर्यते । न किमपि किमपि परिहीयते शच्या ओजस्वितया ।

2 चित्रलेखा-साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितं त्वया ।

-विक्रमोर्वशीयम्, तृतीय अंक ।

नायिका वसन्तसेना का शास्त्रीय मूल्यांकन -

महाकवि शूद्रकरचित मृच्छकटिक में दो प्रकार की नायिकाओं का चरित्र चित्रित हुआ है - (1) कुलस्त्री (2) गणिका । परन्तु प्रस्तुत नाटक में मुख्यतया गणिका का चरित्र ही विकसित हुआ है । नायिका वसन्तसेना गणिका है तथा कुलस्त्री के रूप में धूता का चरित्र है । इन दोनों चरित्रों में वसन्तसेना मुख्य स्त्री-पात्र है ।

सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार -

सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से वसन्तसेना उज्जयिनी की एक वैभवशालिनी गणिका है । शूद्रक की प्रतिष्ठानुसार उस समय गणिकाएँ अपना व्यवसाय छोड़कर उच्चवर्ग के द्वारा कुलवधू के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती थीं । मदनिका और वसन्तसेना का क्रमशः शर्विलक और चारुदत्त की पत्नी बन जाने से इस बात की पुष्टि होती है । तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार गणिकाएँ अपने कलाप्रदर्शन के आधार पर अर्थोपार्जन करने में स्वतन्त्र थीं । इसी आधार पर वसन्तसेना अत्यन्त सम्पत्तिशालिनी थी । उसके इस विशालतम वैभव को देखकर विदूषक यह कहता है - एवं वसन्तसेनाया बहुवृत्तान्तम् अष्टप्रकोष्ठं भवनं प्रेक्ष्य, यत् सत्यं जानामि, एकस्थमिव त्रिविष्टपं दृष्टम् । प्रशंसितुं नास्ति मे वाचाविभवः । किं

तावद् गणिकागृहम् ? अथवा कुबेरभवनपरिच्छेद: ? इति[1]। यद्यपि तत्का-
लीन समाज में गणिका को कुलस्त्री की अपेक्षा निम्न स्थान प्राप्त था, तथापि
शूद्रक द्वारा गणिका वसन्तसेना को कुलवधू के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई गई है[2]।
फलत: यह कहा जा सकता है कि शूद्रक ने सामाजिक स्थिति की अनुकूलवेदनीयता
से युक्त होकर गणिका वसन्तसेना का चित्रण किया है । तभी वसन्तसेना के
लिए वह सामाजिक स्थिति अनुकूलवेदनीय हुई ।

आचरण की शुद्धता का आधार -

ज्ञातव्य है कि कामोपभोग के बाह्य और आभ्यन्तर नाट्य-धर्म
के अनुसार गणिका वसन्तसेना "बाह्या" नायिका है । यद्यपि वह इस बात
को पूर्ण रूपेण जानती है कि गणिका होने के कारण उसे नायक चारुदत्त के
अन्त:पुर में प्रविष्ट होने का कोई अधिकार नहीं है[3], तथापि अपने प्रमोत्सर्ग
के द्वारा अन्ततोगत्वा वह अन्त:पुर में प्रविष्ट हुई । उसके प्रेम की पराकाष्ठा
उसके शुद्ध और निर्मल चरित्र को प्रदर्शित करती है । चारुदत्त आर्थिक रूप से

1- मृच्छकटिक, चतुर्थ अङ्क ।

2- शर्विलक - आर्ये वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति ।
-मृच्छकटिक, दशम अङ्क ।

3- अभागिनी खल्वहं तव अभ्यन्तरस्य ।
- मृच्छकटिक, प्रथम अङ्क ।

नितान्त विपन्न नायक है; जिससे वह पवित्र प्रेम करती है, किन्तु अप्रिय शकार के प्रणय-निवेदन को लोभ, आतंक और मृत्यु का भय दिखाने पर भी नहीं स्वीकारती[1]। फलतः आचरण की दृष्टि से वसन्तसेना पूर्णरूपेण परिशुद्ध मानी जा सकती है, क्योंकि चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी गणिका वसन्तसेना को अपने अन्तःपुर में स्थान प्रदान करता है।

कामदशा की अवस्था का आधार -

कामगत अवस्थाओं के अनुसार नायिका वसन्तसेना अभिसारिका तथा स्वाधीनभर्तृका के रूप में यत्र-तत्र प्रतिष्ठित हुई है। नाटक के चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना के अभिसरण के सङ्केत-स्थल की सूचना विदूषक द्वारा चारुदत्त को दी गई है[2]। पञ्चम अङ्क में अत्यन्त घोर अन्धकार, तीव्र मेघगर्जन तथा वृष्टि होने पर भी वसन्तसेना तैयार होकर आर्य चारुदत्त से मिलने के लिए जाती है। स्वयं वसन्तसेना का यह कथन इस तथ्य की सूचना देता है -"जलधर ! निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।

स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि॥[3]"

1- (क) चेटी- आर्ये ! येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्त्रिकोऽलङ्कारः अनुप्रेषितः ।
-मृच्छकटिक, चतुर्थ अङ्क ।

2 (ख) एवं विज्ञापयितव्या- यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं मात्रा आज्ञापयितव्या ।
-मृच्छकटिक, चतुर्थ अङ्क ।

2- मृच्छकटिक, 4/31, के बाद वसन्तसेना एवं विदूषक संवाद ।

3- मृच्छकटिक, 5/28

मृच्छकटिक के दशम अङ्क में वसन्तसेना गणिका होने के कलंक को अपने उदात्त चरित्र के बल पर धो डालती है और आर्य चारूदत्त के द्वारा अपने अन्तःपुर में प्रवेश कराई जाती है, जिसकी सूचना शर्विलक के संवाद से दी गई है[1]। इस प्रकार नायिका वसन्तसेना स्वाधीनभर्तृका के रूप में प्रतिष्ठित हुई। ध्यातव्य है कि भरत और परवर्ती आचार्यों द्वारा गणिका का अन्तःपुर में प्रवेश निषेधित किया गया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में गणिका का जो गौरवशाली स्थान था, परवर्ती काल में वह अत्यन्त निकृष्ट हो गया होगा, क्योंकि महाकवि शूद्रक के द्वारा गणिका वसन्तसेना को अन्तःपुर में प्रवेश दिलाना इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि तत्कालीन सामाजिक संचेतनाओं में नारी चरित्र के उदात्तीकरण को प्रश्रय दिया जाता रहा होगा और सामाजिक दबाव के फलस्वरूप गणिका भी कुलवधू का स्थान प्राप्त करने में सफल हो जाती रही होंगी। अस्तु, मृच्छकटिक वास्तव में हमारी सांस्कृतिक एवं सामाजिक विचारधाराओं का अनूठा सामंजस्य प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यह निम्न चरित्र को भी आदर्शात्मक रूप में स्थापित करता है।

अङ्गरचना तथा अन्तःप्रवृत्ति का आधार -

महाकवि शूद्रक नें वसन्तसेना को अति सुन्दर तरूणी और उज्जयिनी नगरी का विभूषण कहा है। स्वयं नायक चारूदत्त उसके रूप-लावण्य

1- आर्ये ! वसन्तसेने ! परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानुगृह्णाति।

-मृच्छकटिक, दशम अंक ।

का वर्णन करते हुए यह कहता है -"छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते[1]।" कवि ने उसकी सुन्दरता और अन्तःप्रवृत्ति का अतीव सुन्दर चित्रण नवें अङ्क में किया है । शकार के यह कहने पर कि मैंने वसन्तसेना की हत्या कर दी है, विट अत्यन्त करूणायुक्त विलाप करते हुए यह कहता है -"उदारता का स्रोत, सौन्दर्य में रति, सुमुखी, अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाली तथा सौजन्य की नदी नष्ट हो गई[2]।" उसकी उदारता का परिचय मदनिका को दासता से मुक्त करके शर्विलक को सौंप देने से भी मिलता है । वह अत्यन्त उदार हृदया एवं सहृदया गणिका है, क्योंकि गणिका होने पर भी धार्मिक प्रवृत्ति की होने के कारण प्रतिदिन पूजन-अर्चन करती है । उसकी वात्सल्य-भावना अत्यन्त प्रशंसनीय है, क्योंकि चारूदत्त के पुत्र को देखकर अपने आभूषणों का परित्याग कर देती है, जो कि नारी-सुलभ प्रवृत्ति के विपरीत उसकी अत्यन्त भावुक भावना का प्रदर्शन है । वह अपने अन्तःकरण से अत्यन्त परिशुद्ध है । इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि चारूदत्त की पत्नी के प्रति भी उसमें कोई ईर्ष्या का भाव नहीं है । वह उससे अत्यन्त प्रेम करती है और उसके साथ भगिनी का नाता भी जोड़ती है[3]। वसन्तसेना का चारूदत्त से सात्त्विक और निष्काम प्रेम है । वह चारूदत्त के प्रेम के प्रति पूर्णतया समर्पित है । यद्यपि वह यह जानती है कि चारूदत्त अत्यन्त दरिद्र है, किन्तु फिर

1- मृच्छकटिक 1/54

2- मृच्छकटिक 9/38

3- हञ्जे ! गृहाण एतां रत्नावलीम् । मम भगिन्यै आर्याधूतायै गत्वा समर्पय, वक्तव्यञ्च-इयं श्रीचारूदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि, तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली ।

- मृच्छकटिका, षष्ठ अङ्क ।

भी वह उसे निरपेक्ष भाव से प्रेम करती है । महाकवि शूद्रक ने प्रेम के उत्सर्ग को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि नायिका वसन्तसेना गणिका होते हुए भी अपनी प्रकृति के विपरीत नायक के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित है, क्योंकि प्रतिष्ठा, अर्थ, आभूषण, अलङ्करण इत्यादि समस्त सांसारिक सुखों का परित्याग करने के लिए भी वह उद्यत है । वह प्रतिनायक शकार के द्वारा प्रेषित प्रणय-प्रस्ताव को भी इसी कारणवश ठुकरा देती है । धन का लोभ और मृत्यु का भी आतंक तथा भय उसे नहीं है । वह चारुदत्त के नाम पर मृत्यु का भी वरण करने को तैयार हो जाती है । वसन्तसेना कलाकुशल, विदुषी एवं अभिव्यंजनाओं की अत्यन्त कुशल ज्ञात्री है । यद्यपि साधारणतया वह प्राकृत भाषा का प्रयोग करती है तथापि उसे संस्कृत का भी ज्ञान है । चौथे अङ्क में विदूषक से वह संस्कृत भाषा में वार्तालाप करती है । वह प्रसाधन कला में भी निपुण है । चित्रकला, संगीत तथा नृत्य में भी वह अत्यन्त प्रवीण है ।

फलतः वसन्तसेना के आङ्गिकसौष्ठव तथा अन्तःप्रवृत्ति के आधार पर यह कहा जा जा सकता है कि गणिका होते हुए भी वसन्तसेना उज्ज्वल चरित्र उदार हृदयता, अपूर्व त्याग तथा निष्काम एवं निश्छल प्रेम इत्यादि गुणों से युक्त है । अस्तु वसन्तसेना के व्यवहार, पवित्र प्रेम तथा उपर्युक्त सभी उत्कृष्ट गुणों के कारण ही अन्ततोगत्वा उसे कुलस्त्री का पद प्राप्त होता है ।

<u>प्रकृतिगत आधार</u> -

महाकवि शूद्रक ने गणिका वसन्तसेना को प्रकृतिगत आधार पर उत्तमा नारी के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है । कारण जो भी हो, पर शूद्रक ने सामान्या स्त्री को उसके आचार, व्यवहार, सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रेमोत्सर्ग के द्वारा अन्ततोगत्वा नाट्यशास्त्र में व्याख्यात उत्तमा स्त्री के गुणों के अनुरूप सिद्ध किया है । आचार्य भरत के अनुसार "जो स्त्री अपने अप्रियकारी प्रिय को भी कड़े वचन नहीं बोलती, जिसमें क्रोध स्थायी नहीं रहता, कला और शिल्प में जो विदग्धा हो, जो अपने कुल-सुख और धन में श्रेष्ठ होने के कारण अनेक पुरुषों के द्वारा चाही जाए, प्रणयोपचार में चतुर हो, ईमानदार और सुन्दर रूप से शोभित हो, कारणवश क्रोध करने वाली हो, ईर्ष्यारहित सम्भाषण करने वाली, कार्य तथा अवसर को समझने वाली एवं स्वरूपशालिनी हो, उसे उत्तमा स्त्री समझना चाहिए ।"[1]

भरतसम्मत उपर्युक्त मत पर यदि विचार किया जाए तो नायिका वसन्तसेना में ये सभी गुण विद्यमान हैं । वह अपने अप्रिय व्यक्तियों (जैसे प्रतिनायक शकार) से भी कड़े वचनों का प्रयोग नहीं करती । क्रोध तो उसमें छू ही नहीं गया है । वह विदुषी, बुद्धिमती तथा कलाकुशल नारी है,

---

1- नाट्यशास्त्र 25/37-39

उसका संस्कृत - ज्ञान इस बात का स्पष्ट प्रमाण है । वेश्या होते हुए भी वह धार्मिक प्रवृत्तियों में लीन रहती है । श्रेष्ठतम त्याग की मूर्ति है, दृढ़संकल्प है । कार्य, अवसर तथा गूढ़ व्यंग्य की अभिव्यञ्जनाओं को समझने में समर्थ है । यहाँ पर एक विचारणीय सत्य यह भी है कि यद्यपि वसन्तसेना श्रेष्ठ कुल से सम्बन्ध नहीं रखती, तथापि गुण, कर्म, आचार-व्यवहार, बुद्धि और कला कौशल में वह कुलस्त्री के समान प्रतिष्ठित हुई है । कुल के आधार को छोड़कर यदि हम गुणात्मक आधार पर विचार करें तो उपर्युक्त समस्त श्रेष्ठ कोटि के गुणों से सम्पन्न होने के कारणवश गणिका होने पर भी उसे निस्सन्देह उत्तमा नारी स्वीकार किया जा सकता है ।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सम्भवतया तत्कालीन ऐतिहासिक आकलन के अनुसार यदि देखा जाए तो उस समय जाति-व्यवस्था कर्मज थी, इस तथ्य का भी स्पष्ट आभास वसन्तसेना के चारित्रिक मूल्यांकन करने से मिलता है, क्योंकि उसे समाज में प्रतिष्ठित कुलस्त्री के पद पर अन्ततोगत्वा शोभित होना इसी तथ्य की पुष्टि करता है ।

परवर्ती आचार्यों के विभाजन के आधार पर नायिकाओं का मूल्याङ्कन

भरतप्रणीत मतानुसार प्रायोगिक पक्ष के प्रस्तुतीकरण के बाद अब हम परवर्ती आचार्यों के शास्त्रीय विवेचनों के आधार पर नायिकाओं

का मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे । नायिका-विभाजन की महत्तर परम्परा में धनञ्जय, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ और भानुदत्त के द्वारा किया गया वर्गीकरण प्रमुखतया कुछ आधारों पर व्याख्यात हुआ है - आचरणानुसार, वय के अनुसार, प्रतिष्ठा के अनुसार, कामगत दशाओं के भेदानुसार, प्रकृतिगत गुणानुसार तथा पति के प्रेमानुसार । हम क्रमशः इन्हीं आधारों पर सर्वप्रथम उत्तररामचरित की नायिका सीता का मूल्यांकन करेंगे -

स्वकीया नायिका सीता का शास्त्रीय मूल्याङ्कन

आचरणानुसार -

परवर्ती आचार्यों के मत के अनुरूप आचरणानुसार सीता को स्वकीया नायिका- स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि स्वकीया नायिका के सभी गुण, यथा - सच्चरित्रता, पवित्रता, अकुटिलता, शीलता एवं लज्जा इत्यादि नायिका सीतामें परिलक्षित होते हैं । सीता का यह आदर्श चरित्र उनके कार्य व्यापारों की अपेक्षा नायक श्री राम के मुख से बार-बार वर्णित हुआ है । नायक श्री राम का यह निश्चित मत है कि सीता के कारण ही यह संसार पवित्र है, क्योंकि वे सीता को जन्मरूपी अनुग्रह से पृथ्वी को पवित्र करने वाली स्वीकारते हैं । उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में यत्र-तत्र सीता की सच्चरित्रता की व्याख्या श्री राम के मुख से हुई है । वे कहते हैं -

"तुमसे संसार पवित्र है, किन्तु तुम्हारे विषय में लोगों के विचार दूषित हैं, तुमसे लोक सनाथ है, किन्तु तुम अनाथ की भाँति मर रही हो ।"[1] प्रस्तुत कथन राम के अत्यन्त मार्मिक उद्गार को प्रकट करता है । जिसके जन्म या उपस्थिति से संसार की पवित्रता वर्धित हो, उसकी पवित्रता की व्याख्या शब्दों में सीमित नहीं की जा सकती । सीता के हृदय में नायक राम के लिए असीम प्रेम, भक्ति और श्रद्धा है । प्रथम अङ्क में राम के द्वारा यह कहा गया है कि प्रजा के अनुरञ्जन-हेतु वे समस्त सुखों का यहाँ तक कि सीता का भी परित्याग कर सकते हैं, तब भी सीता राम की प्रशंसा करते हुए उन्हें "राघवकुलधुरन्धर आर्यपुत्रः" कहती हैं । यद्यपि राम द्वारा सीता का परित्याग सीता की कठिन परिस्थिति {गर्भावस्था} के समय हुआ था, सीता फिर भी हृदय से राम के प्रति अटूट और असीम प्रेम रखती हैं । उत्तर-रामचरित के तृतीय अङ्क में राम के वियोग से सीता अत्यन्त पीड़ित होती हैं, फिर भी इसके लिए वह अपने को ही उपालम्भ देती हैं ।[2] वे राम के वियोग में बार-बार मूर्छित होती हैं और वे कहती हैं -"आर्यपुत्र । तुम सच्चे हो । ओह, अब आर्यपुत्र ने मेरे लिए परित्याग-शल्य को उखाड़ डाला है।"

1- उत्तररामचरित 1/43 तथा द्रष्टव्य 1/9, 13, 14, 4/11, 7/8

2- वही, 3/22

3- वही, 1/28 के उपरान्त सीता संवाद

वह पति के कष्टों से अत्यन्त दुःखी भी होती हैं । राम की व्यथा से व्यथित सीता का चरित्र अत्यन्त उदात्त और उत्तमकोटि की पतिव्रता नायिका का है । सम्पूर्ण उत्तररामचरित के अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि सीता वस्तुतः सीता न होकर राममयी सीता हैं । वास्तव में यही आदर्श पतिपरायणता ही भारतीय नारियों के लिए आज भी सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । नायिका सीता का आचरण सदैव अकुटिल रहा है । यह विचारणीय विषय है कि राजसुख का उपभोग करने वाली सीता को उसकी कठिनतम परिस्थिति में जनशून्य वन में निर्वासित कर दिया गया । तज्जन्य परिस्थितियों में उन्हें किन-किन कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा होगा, किन्तु उत्तररामचरित के अनुशीलन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उन्होंने समस्त कष्टों को आत्मसात् कर लिया, इसका विरोध उन्होंने कहीं पर भी नहीं किया है । उनका व्यवहार सदैव संवेदनात्मक ही रहा है । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि सीता के चरित्र में कुटिलता का कोई भी अंश परिलक्षित नहीं होता है । नायिका सीता में लज्जाशीलता अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है । तृतीय अङ्क में जब राम द्वारा सीता का स्पर्श किया जाता है, तब वे तमसा एवं वासन्ती की उपस्थिति में लज्जा से अभिभूत हो उठती हैं । राम यह कहते हैं -"ओह ! सीता का जड़, कम्पित तथा पसीने वाला हाथ मेरे जड़, कम्पित तथा पसीना आए हुए हाथ से ही अचानक छूट गया है ।" स्वयं तमसा का यह अभिकथन -"बेटी {सीता} प्रिय {राम}

के स्पर्श सुख से, पवन से कँपाई तथा प्रथम वर्षा के जल से सींची हुई कदम्ब की विकसित डाल के समान स्वेद से रोमाञ्चित और कम्पित हो गई है ।" पुनश्च सीता का यह स्वगत कथन भी उनकी लज्जाशीलता का प्रमाण है - " "मेरी इस विवशता के कारण देवी तमसा ने मुझे बहुत लज्जित किया है । क्या यह (अपने मन में) सोच रही होंगी - कहाँ यह परित्याग ? और कहाँ यह आसक्ति ?"[1] इसी भाँति सप्तम अङ्क में अरुन्धती स्वयं सीता से लज्जाशीलता का परित्याग करने को कहती हैं ताकि वह राम का स्पर्श करके पुनर्जीवन प्रदान कर सके ।[2] यह बात भी सीता की लज्जाशीलता का परिचायक है । इस प्रकार नायिका सीता में लज्जाशीलता का अत्यन्त उदात्त पक्ष महाकवि भवभूति ने चित्रित किया है । वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि सीता प्रकृति से अत्यन्त कोमल, सदाचारिणी, पतिपरायण, आदर्शमयी एवं करुणा की मूर्ति हैं, जिनके तेज से ही राम को पुनर्जीवन प्राप्त होता है । गुरुजन तथा अन्य लोगों की उपस्थिति में वह राम को स्पर्श भी करने में अत्यन्त संकोच करती हैं । फलतः हम यह कह सकते हैं कि स्वकीया नायिका के समस्त गुण, यथा- सच्चरित्रता, पतिव्रता, अकुटिलता, लज्जाशीलता एवं पति के प्रति व्यवहार में अत्यन्त निपुणता आदि नायिका सीता में उत्कृष्ट रूप से व्याख्यात हुए हैं । उनका उदात्त चरित्र अनुकरणीय है, जो सुमनस् सामाजिकों एवं जनसाधारण के लिए श्लाघनीय है ।

1- उत्तररामचरित, 3/42 तथा तत्पश्चात् सीता संवाद

2- वही, 7/19

वय के अनुसार -

वय के अनुसार स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा भेदों तथा उपभेदों के अन्तर्गत सीता को उनकी वयः सन्धि के अनुसार मुग्धा नायिका स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि नायिका सीता नायक राम के मानादि क्रोधों में भी अत्यन्त कोमल रही हैं। वे अतीव सौन्दर्ययुक्त हैं। राम ने स्वयं उनके रूपगत सौन्दर्य का वर्णन किया है। वे कहते हैं - सीता के केश सूक्ष्म एवं विरल थे जो उनके कपोलों पर फैले रहते थे। वे अपनी अल्पायु में अत्यन्त गौरांग एवं कोमलांगी तथा सुन्दर दन्तपंक्ति वाली थीं।"[1] उत्तररामचरित में सीता क्रोधरहित नारी के रूप में चित्रित हैं। प्रथम अङ्क में जहाँ सीता का परित्याग किया जा रहा है, वहाँ भी उन्होंने नायक राम के प्रति कोई क्रोध प्रदर्शित नहीं किया है।[2] तृतीय अङ्क में स्वयं सीता भी यह कहती हैं - " -------------------आज मुझ मन्दभागिनी को यादकरके स्नेह से युक्त आर्यपुत्र पर वज्रमयी मैं कैसे कठोर हो सकूँगी ? मैं ही इनका हृदय जानती हूँ और यह मेरा।"[3] तृतीय अङ्क में ही जब वासन्ती राम को कठोर हृदय वाली कहती है तो सीता स्वयं ही वासन्ती को फटकारती हैं। वे कहती हैं-"सखि वासन्ति ! त्वमेव दारुणा कठोरा च। यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि।" इन उद्धरणों से पूर्णतया स्पष्ट है कि सीता"कोपमृदु" नायिका हैं।

1- उत्तररामचरित 1/20

2- वही, 1/51 तदुपरान्त सीता संवाद

3- उत्तररामचरित 3/13 के पश्चात् सीता संवाद

प्रतिष्ठा के अनुसार -

उत्तररामचरित के अनुशीलनोपरान्त यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नायिका सीता एक आदर्श पतिव्रता, पुत्र वत्सला, सरल एवं करुण-हृदया तथा परम पवित्र देवी स्वरूपा है । ऐसी विलक्षण परिस्थिति में नायिका सीता के उत्सर्ग तथा त्यागमयी छवि को दृष्टिगत रखते हुए परवर्ती आचार्यों द्वारा किए गए प्रतिष्ठागत भेद- धीरा, धीराधीश तथा अधीरा में नहीं बाँधा जा सकता । जैसा कि हम अपनी पूर्वविवेचना में कह चुके हैं कि वे कोपमृदु हैं इसी कारण सीता को इन उपर्युक्त भेदों के अनुरूप नहीं पाया जाता । महाकवि भवभूति ने सीता के चरित्र को मानादि अवस्थाओं से परे आदर्शात्मक रूप में विकसित किया है ।

कामगत दशाओं के अनुसार -

नायिका सीता अवस्थागत भेदों के अनुसार विरहोत्कण्ठिता एवं स्वाधीनभर्तृका नायिका कही जा सकती हैं । यद्यपि भवभूति ने तृतीय अङ्क में सीता और राम का मिलन कराया है, किन्तु संयोग और वियोग दोनों की स्थिति अत्यन्त विचित्र प्रतीत होती है, क्योंकि सीता विरहोत्कण्ठिता होने के साथ-साथ मिलन की अवस्था में राम के दर्शन नहीं कर पाती हैं । उनकी विरह अवस्था महाकवि का यह श्लोक अत्यन्त सुस्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है -

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं,

हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोक: ।

ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्या: शरीरं,

शरदिज इव धर्म: केतकीगर्भपत्रम् ।।[1]

अन्ततोगत्वा नायक राम का सीता से मिलन वाल्मीकि के आशीर्वचन से होता है । तब वह पूर्णरूपेण स्वाधीनभर्तृका नायिका हो जाती है।[2]

महाकवि भवभूति ने नायिका सीता की कामगत अवस्थाओं का उदात्तीकरण किया है, क्योंकि आदर्शमयी सीता का स्वरूप साधारणतया अन्य भेदों में समाहित नहीं किया जा सकता था, इसी कारणवश नाटक में संयोग और वियोग की विलक्षण स्थिति परिलक्षित होती है । अन्ततोगत्वा जब नायिका सीता का नायक राम से मिलन हो जाता है तो अन्त में उसके उद्देश्य {रसानुभूति} की पूर्ति भी होती है ।

1- उत्तररामचरित 3/5

2- वत्से । एवमेव चिरं भूया: ।

– उत्तररामचरित, सप्तम अङ्क

<u>प्रकृतिगत गुण के अनुसार -</u>

अन्तःप्रकृति के अनुसार नायिका सीता उत्तमा नायिका हैं, क्योंकि उत्तररामचरित के अनुशीलन से स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उत्तमा प्रकृति के समस्त गुण नायिका सीता में विद्यमान हैं । नायिका सीता भगवती वसुन्धरा की पुत्री है । वे आदर्श पतिव्रता, विनोदप्रिय तथा मृदु-वचना हैं । वे राम के सुख में सुखी और उनके दुःख से दुःखी होती हैं । कठोर परिश्रम एवं सहिष्णुता भी इनकी विशेषताएँ है । उनमें परिस्थिति एवं देशकाल के अनुरूप कार्य करने की क्षमता है, धर्म के प्रति आस्था है । वे अत्यन्त करुणहृदया एवं निश्छल हैं । इन्हीं सब कारणों से उनके जीवन को भारतीय नारी का आदर्श माना गया है ।

<u>पति के प्रेमानुसार -</u>

परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया यह उपभेद कि नायिका ज्येष्ठा एवं कनिष्ठा हो सकती हैं, यह नायिका सीता पर आरोपित नहीं किया जा सकता, क्योंकि राम ने पुनर्विवाह भी नहीं किया और न ही सीता के अतिरिक्त उनकी कोई अन्य पत्नी ही थी, भवभूति ने स्वयं ही राम को एकपत्नीव्रत-पालन वाला बताया है ।[1] अतः अन्य कि सपत्नी के न होने से

1- वासन्ती - अहह धिक् ! परिणीतमपि ?
आत्रेयी - शान्तम्, नहि नहि ।
वासन्ती - का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी ?
आत्रेयी - हिरण्यमयी सीताप्रतिकृतिर्गृहिणीकृता ।
उत्तररामचरित, द्वितीय अङ्क पृष्ठ 37

सीता ज्येष्ठा या कनिष्ठा नहीं कही जा सकती ।

उपर्युक्त समीक्षात्मक आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नायिका सीता अभिशापित एवं परित्यक्ता हैं, किन्तु वे सहिष्णुता एवं वात्सल्य की प्रतिमूर्ति हैं । उनका पातिव्रत्य-धर्म अत्यन्त उच्च है, क्योंकि निर्वासित होने पर भी वह राम के प्रति अत्यन्त स्नेहिल हैं । वे अपने आदर्श एवं पवित्र आचरण के कारण ही लोक को अपनी चारित्रिक पवित्रता का विश्वास दिलाने में सफल हो पाती हैं । वस्तुतः उनका जीवन एक तपस्या है । अस्तु, यह कहा जा सकता है कि सीता आदर्श,परम साध्वी, पतिव्रता, सहिष्णु, मानिनी, वियोगिनी, दक्ष, दृढ़प्रतिज्ञ, पुत्रवत्सला,प्रकृति-प्रिया, सरल, करुण हृदया एवं परमपवित्र देवी स्वरूपा हैं । इसी श्रेष्ठ चरित्र के कारण ही सीता का आदर्श भारतीय समाज के लिए एक मानक आधार है ।

परकीया नायिका -

रत्नावली के नायिका सागरिका का शास्त्रीय मूल्यांकन

परकीया नायिका का निबन्धन नाट्य की शास्त्रीय मर्यादा को दृष्टि में रखते हुए निषिद्ध किया गया है तथा समस्त परवर्ती आचार्यों ने लोक की नैतिक चेतना के अनुरूप इसी निषेध का पोषण किया है, क्योंकि

परकीया नायिका किसी की परिणीता अथवा अविवाहित पुत्री को कहा गया है । नैतिक दृष्टि से परिणीता के प्रति प्रेमाकर्षण अनुचित है तथा यह शास्त्रीय मर्यादा के प्रतिकूल विषय-वस्तु है । यद्यपि लोक में व्यावहारिक रूप से ऐसी सम्भावनाएँ हो सकती हैं किन्तु सामाजिक, धार्मिक और नैतिक बन्धनों के कारण परकीया (परिणीता के साथ) प्रेम को किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता । परकीया को पक्षान्तर से कन्यका भी कहा गया है । कन्यका उसे कहते हैं जो कन्या पिता अथवा संरक्षकों के अधीन रहती हैं । परिणीता-प्रेम को अनुचित निर्धारित किया गया है किन्तु कन्या के प्रेम को शास्त्रीय मर्यादाओं के अन्तर्गत निषिद्ध नहीं किया गया है । इसी सन्दर्भ में हम रत्नावली नाटिका की नायिका सागरिका की शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं -

नायिका सागरिका (प्रारम्भ में रत्नावली) सिंहल के राजा विक्रमबाहु की कन्या है । वह परम सुन्दरी, रमणियों में रत्नस्वरूपा तथा चक्रवर्ती सम्राट की साम्राज्ञी होने वाले सामुद्रिक लक्षणों से युक्त है । स्वयं उदयन की महारानी वासवदत्ता उसके अलौकिक रूप-यौवन से ईर्ष्या करती हैं तथा इसी ईर्ष्या के कारण सागरिका और वत्सराज उदयन के मिलन में बाधा बनती है । सागरिका न केवल सौम्यदर्शना है, अपितु असामान्य रूपशोभा से

सम्पन्न है । स्वयं राजा उदयन भी उसे लक्ष्मी एवं चन्द्रतुल्य मानते हैं।[1] वह अत्यन्त शुभ, शीलयुक्त, सलज्ज एवं सखीजन वत्सला भी है । द्वितीय अङ्क में जब वह राजा उदयन का चित्र बना रही है तो सुसंगता के आ जाने पर लज्जावश उस चित्र को ढक देती है तथा उस चित्र को भगवान कामदेव का चित्र बताती है ।[2] तृतीय अङ्क में राजा उदयन उसके लज्जाभाव को अपने कथन द्वारा पुष्ट करते हैं ।[3] वह प्रेम और सौहार्द की प्रतिमूर्ति है तथा अत्यन्त भावुक कन्या है । प्रेम का प्रभाव उसके रोम-रोम में व्याप्त है और इसी भावातिरेक में वह राजा के चित्र को बनाकर अपने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को शान्त करने की चेष्टा करती है तथा भाव-प्रवणता के कारण वह अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करने को उद्यत हो जाती है । प्रारम्भ में वह विरहोत्कण्ठिता है तो अन्त में स्वाधीनभर्तृका के रूप में उपस्थित हुई है । सामान्य रूप से उसे उत्तम प्रकृति की नायिका कहा जा सकता है, क्योंकि कठिन परिस्थितियों में रहते हुए भी उसने अपने धैर्य का परित्याग नहीं किया है । आङ्गिकरचना और अन्तःप्रवृत्ति के अनुसार वह श्रेष्ठ कोटि की कही जा सकती है ।[4] वह अत्यन्त कोमल अन्तःप्रवृत्ति वाली है । उसके अभिसरण की चेष्टा जब महारानी को ज्ञात हो जाती है तो वह महारानी के क्रोध से अत्यन्त भयभीत हो उठती है, इसके लिए कोई उपाय न सूझने पर वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को उद्यत

1- रत्नावली नाटिका 2/9,10,16,18
2- रत्नावली नाटिका, द्वितीय अङ्क पृष्ठ 79
3- वही, 3/4
4- रत्नावली नाटिका 3/11

हो जाती है । ये सभी बातें उसकी उच्च अन्तः-प्रवृत्ति की परिचारक हैं । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि सागरिका श्रेष्ठ कोटि का कन्यका (परकीया) नायिका है । यद्यपि वत्सराज उदयन स्वकान्ता-भय से आक्रान्ता हैं, फिर भी वे सागरिका के प्रेम में आबद्ध हैं यह उसके स्वाधीनभर्तृका रूप[1] का परिचायक है । रत्नावली नाटका में सागरिका का प्रेम ही प्रधान रस के रूप में परिणत हो जाता है ।

साधारण स्त्री -

मृच्छकटिक की नायिका वसन्तसेना का शास्त्रीय मूल्यांकन

तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री अथवा गणिका होती है, जो कला चतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त कही गई है । अपनी पूर्व-विवेचना में हम प्रख्यात चरित्रों में गणिका वसन्तसेना का शास्त्रीय मूल्यांकन कर चुके है । यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने गणिका को प्रहसन के अतिरिक्त अन्य रूपकों में नायक के प्रति अनुरक्त दर्शाने की बात कही है, किन्तु उसे तथा उसके प्रेम को प्रहसन में हास्य रस के आलम्बन के रूप में ही चित्रित करना चाहिए तथा दिव्य एवं नृप नायकों वाले नाटकों में इसका समावेश नहीं किया जा सकता । नायिका

1- वसुभूति - आयुष्मति ! स्थाने देवीशब्दमुद्वहसि ।

- रत्नावली नाटिका, चतुर्थ अङ्क

वसन्तसेना इसी तीसरी श्रेणी की नायिका "साधारण स्त्री" स्वीकार की जाती है, किन्तु तीसरी श्रेणी की नायिका के प्राकृतिक गुणों का उसमें अभाव है । वसन्तसेना बुद्धिमती, कलाकुशल तथा विदुषी नारी है, वह विशालहृदया है तथा गणिका होने पर भी उसका चरित्र अत्यन्त पवित्र है । वह सच्चे हृदय से चारुदत्त से प्रेम करती है । महाकवि शूद्रक ने उसे सौन्दर्य की प्रतिमा तथा उदारता रूपी जल की नदी कहा है । वह भूलोक की रति है तथा आभूषणों का भी आभूषण है ।[1] प्रश्न यह उठता है कि एक तरफ गणिका वसन्तसेना का चरित्र अत्यन्त उदात्त है तो दूसरी तरफ उसके हृदय में गणिका जीवन के प्रति हेय दृष्टि भी है । गणिका कलाचतुर, प्रगल्भा तथा धूर्त होती है । इस आधार पर वसन्तसेना कलाचतुर तो है किन्तु वह अपनी कलात्मक अभिरुचि बेचती नहीं है, न ही दूसरों को धोखा देने की चेष्टा करती है तथा साधारणतया उसे धन से भी खरीदना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह स्वयं वैभवशालिनी है । प्रगल्भता तथा धूर्ततागुणों का उसमें नितान्त अभाव है । इन परिस्थितियों में गणिका वसन्तसेना परवर्ती आचार्यों के मतों के अनुरूप शास्त्रीय समीक्षा करने योग्य नहीं प्रतीत होती है ।

फलतः हम यह कह सकते हैं कि गणिका वसन्तसेना एक ऐसी नायिका है, जो साधारण स्त्री होते हुए भी अपने चारित्रिक बल पर अन्तःपुर में प्रवेश कर

1- मृच्छकटिक 8/38

पाती है । ऐतिहासिक अवलोकनों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मृच्छकटिक के काल में गणिकाओं का स्थान परवर्ती काल से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ रहा होगा । परवर्ती आचार्यों पर तत्कालीन सामाजिक संचेतनाओं के दबाव से गणिका के साधारण चरित्र को शास्त्रीय आधार मिला होगा । शूद्रक हमारी सांस्कृतिक विरासत के प्राचीन कवि थे, वे नाट्यशास्त्रीय दृष्टि-कोणों की अवहेलना क्यों करते ? यद्यपि पूर्ववर्ती या भरतकाल में गणिकाओं का केवल अन्तःपुर में प्रवेश वर्जित किया गया था तथा गुणों में उन्हें निम्न कोटि की बताया गया था तथापि इसके विपरीत वसन्तसेना को श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित करना इस तथ्य का द्योतक है कि उस समय व्यक्ति के चारित्रिक वैशिष्ट्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त करने के लिए एक मानक आधार था जो परवर्ती काल में विलुप्त हो गया ।

निष्कर्ष -

नाट्य-विकास के आरम्भिक चरण से ही स्त्री-पात्रों की भूमिका पर गवेषणापूर्वक विचार किया गया है । स्वयं भरत मुनि ने कैशिकी वृत्ति के अभिनय हेतु नाट्य में स्त्री पात्रों की अपरिहार्यता स्वीकार की है । श्रृङ्गार रस का आलम्बन भी बिना स्त्री पात्रों के सम्भव ही नहीं है । संस्कृत-साहित्य

मे नायिका-विभाजन की परम्परा काव्य-शास्त्र के विकास के पहले से ही उपलब्ध रही है । भरत ने कामसूत्र से नाट्य-वस्तु के उपादान का आदेश दिया है । कामसूत्र में मनोवैज्ञानिक आधार पर नायिका भेद का निरूपण तो स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है । उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय कामतन्त्र है। फिर भी इसके विभिन्न प्रकरणों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में स्त्रियों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थिति अस्फुट रूप से विद्यमान रही है । नायिका-विभाजन करते समय भरत के मत पर इसी कामतन्त्र का प्रभाव पड़ा है । नायक-विभाजन की अपेक्षा नायिका-विभाजन एक गुरुतर कार्य था, क्योंकि नारियाँ सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक विभिन्न रूपों से प्रतिबन्धित थीं । वय के अनुसार उनकी क्रियाकलाप, चेष्टाएँ और शारीरिक संरचना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले उनके मानसिक परिवर्तन तथा विभिन्न परिवर्तनों और परिस्थितियों में उनको मनोदशा का आकलन कोई सहज कार्य नहीं था, किन्तु मुनि भरत ने उपर्युक्त सभी आधारों को दृष्टिगत एवं हृदयंगम करते हुए, नायिकाओं का विस्तृत एवं सूक्ष्मतम विभाजन किया है, जिसको परवर्ती आचार्यों ने अपनी नूतन सर्जनात्मक दिशा देने का उत्तरोत्तर प्रयत्न किया है ।

ऋषि भरत ने स्त्री को सुख का मूल तथा काम-भाव का आलम्बन मानकर उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा, आचरण की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ,

---

अङ्गरचना और अन्तःप्रवृत्ति तथा प्रकृतिगत गुणों के आधार पर उनका विभाजन किया है । भरत ने नायिकाओं के विवेचन में वर्गगत एवं जातिगत विशिष्टताओं पर विशेष बल दिया है, जो सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से नितान्त मौलिक एवं दूरगामी परिणाम- युक्त है । नायक की ही भाँति नायिकाओं के भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर होते हैं । सामान्यतया आभ्यन्तर उपचार के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले फलागम को निर्दिष्ट करने हेतु तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार, आभ्यन्तर प्रकृति की ही नायिकाओं का अन्तःपुर में प्रवेश, इस बात का प्रमाण है कि समाज में आचरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था । भरत ने श्राङ्गारिक आलम्बन में नायिकाओं के प्रति कामगत आचार की श्रृंखला के अन्तर्गत उनके (नायिकाओं के) मानसिक उद्गार की स्थितियों को अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है । उन्होंने मानव की मूल प्रवृत्तियों का भी यथोचित विश्लेषण किया है । मानवी स्त्रियों, देवाङ्गनाओं, गन्धर्व-कन्याओं तथा पशु-पक्षियों की शारीरिक संरचना और उनकी मानसिक परिस्थितियों का अत्यन्त विलक्षण विश्लेषण भरत के विचारों में मिलता है । इस सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि भरत ने अत्यन्त सूक्ष्म वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के उपरान्त मानव की मूल प्रवृत्तियों के फलस्वरूप व्युत्पन्न मानव-प्रवृत्तियों का विशद आकलन किया है । मानव- स्वभाव त्रिगुणात्मक है, इसी दृष्टि से उन्होंने स्त्री या नारी-

---

पात्र के स्वभाव को भी त्रिगुणात्मक माना है । फलतः हम यह कह सकते हैं कि भरत ने नायिका-विभाजन की जो परम्परा प्रतिपादित की वह नितान्त मौलिक तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप व्युत्पन्न विचार-धारा थी । नायिका-विभाजन की यह श्रेष्ठ परम्परा विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । ऋषि भरत ने इसका ठोस एवं तलस्पर्शी अध्ययन अपनी मेधा के बल पर किया है । वास्तव में ऋषि भरत द्वारा किया गया नायिकाओं का वर्गीकरण नाट्य-प्रयोग की सीमा-रेखा के अन्तर्गत है । इसकी अपेक्षा परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया नायिका-विभाजन नाट्य-क्षेत्र में अपनी उपयोगिता को खो देता है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने शास्त्रीय पक्ष को अत्यन्त जटिल और क्लिष्ट बना दिया है । इसके विपरीत भरत अत्यन्त सुस्पष्ट और सरल रूप में नायिका विभाजन प्रस्तुत करते हैं, परन्तु फिर भी भरत का नायिका-विभाजन कुछ सीमित है । एक दृष्टि से भरत नायिका-विभाजन की पूर्ण व्याख्या तो करते हैं, किन्तु दूसरी ओर उनका नायिका-विभाजन श्रृंगार-रस के आलम्बन के रूप में ही किया गया है, जो कि स्वतः एक संकुचित क्षेत्र है, क्यों कि नायिकाओं की अन्य अवस्थाओं और भावनाओं तथा तज्जन्य भेदों पर भी विचार किया जाना चाहिए था, किन्तु ऋषि भरत इस विषय में मौन हैं । इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्राचीन काल में काव्य और नाट्य-संरचना आभिजात्यवर्गीय थी, सर्वसाधारण से उसका कोई

सम्बन्ध नहीं था तथा दूसरा कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन सामाजिक परिवेश में स्त्रियों को जीवन-संघर्ष कम करना पड़ता था । ज्ञातव्य है कि नाट्य-साहित्य, जिसमें जीवन की विविधता का उपादान होता है, उसे सीमित क्षेत्र में ही रखना न्यायोचित नहीं प्रतीत होता । आधुनिक रंगमंच वास्तविक रूप से लोक का रंगमंच बन चुका है । ऐसी परिस्थितियों में भरतसम्मत दृष्टिकोण मात्र शास्त्रीय आधार प्रदान करने तक ही सीमित है, क्योंकि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों ने स्त्री-चेतना को नूतन सर्जनात्मक आयाम प्रदान कर दिया है । जिसके कारण भरतसम्मत नायिका-विभाजन अधिक समीचीन नहीं प्रतीत होता । भरतसम्मत प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों का मूल्यांकन तत्कालीन परिवेश और परिस्थितियों में ही किया जा सकता है, इसके विपरीत आधुनिक युग में ये सिद्धान्त शास्त्रीय आधार तो प्रदान कर सकते हैं, किन्तु व्यावहारिक रूप में वे मूल्यहीन ही सिद्ध होंगे । परन्तु इसमें भी कोई संशय नहीं है कि भरत द्वारा किया गया नायिका-विभाजन एक गुरुतर और विलक्षण कार्य था, जिसने परवर्ती आचार्यों को नायिका विभाजन का आधार एवं नूतन दृष्टि प्रदान की ।

परवर्ती आचार्य भरत-प्रणीत मत को पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते । यद्यपि उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि भरत के चिन्तन की भावभूमि से ही नूतन

सर्जनात्मक दृष्टिकोण प्राप्त करती है । ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों ने अपनी समसामयिक परिस्थितयों के अनुसार तथा कालक्रम के अनुसार नारी की दशा के परिवर्तन को अपने शास्त्रीय नायिका-विभाजन में प्रत्यारोपित करने की चेष्टा की है । भरत के विचार-प्रणयन के पश्चात् संस्कृत-मनीषियों द्वारा दीर्घ काल तक नायिका विभाजन की परम्परा का शास्त्रीय मूल्यांकन नहीं किया गया, किन्तु 10वीं शताब्दी के प्रमुख संस्कृत-मनीषी धनञ्जय ने नाट्य के समस्त सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष का आकलन करते हुए नायिका-विभाजन की विशद् रूपरेखा प्रस्तुत की । भरत की दिव्या, नृपपत्नी, कुलजा और गणिका ही धनञ्जय द्वारा स्वकीया परकीया और सामान्या में परिवर्तित की गई । उन्होंने नायिका-विषयक वर्गीकरण को प्रकृतिजन्य आंगिक सौष्ठव के विकास की प्रक्रिया या उसकी वय के अनुसार, सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार आचरण के अनुसार और मानसिक प्रतिक्रिया के अनुसार प्रस्तुत किया, किन्तु इन्होंने भी नारी-पात्रों को श्रृंगार रस के आलम्बन तक ही सीमित रखा । उन्होंने नारी की वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा अन्य गुणात्मक परिवर्तनों को शास्त्रीय-समीक्षा का विषय नहीं बनाया । जिस भाँति प्राचीन काल में नारी को मात्र उपभोग की दृष्टि से देखा गया था, उसी भाँति धनञ्जय के मत में भी इस दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं परिलक्षित होता है । फलतः यह कहा जा सकता है कि धनञ्जय ने अपनी समसामयिक परिस्थितियों के अनुसार

नायिका-विभाजन का एक गुरुतर कार्य तो किया, किन्तु वर्तमान मूल्यात्मक दृष्टिकोण से उनके सिद्धान्तों का व्यावहारिक मूल्य अल्प ही प्रतीत होता है ।

सागरनन्दी, रुद्रट,शारदातनय, विश्वनाथ तथा भानुदत्त आदि समस्त परवर्ती आचार्यों ने धनञ्जय और भरत के ही मतों का पिष्ट-पेषण किया है । इसके विपरीत रामचन्द्रगुणचन्द्र भरत और धनञ्जय के मतों में सामंजस्य स्थापित करते प्रतीत होते हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया नायिका- विभाजन सामाजिक, शारीरिक,मानसिक एवं प्रेमगत अवस्थाओं के आधार पर किया गया है तथा इन्हीं अवस्थाओं के आधार पर इनका शास्त्रीय नामकरण किया गया है ।

ध्यातव्य है कि प्राचीन काल से मध्य काल तक नायिका-विभाजन की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती रही है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से नाट्य प्राचीन काल से मध्य काल तक आभिजात्यवर्गीय रहा है तथा नाट्य के आस्वादक जनसामान्य की अपेक्षा उच्च वर्ग के लोग अधिक रहे हैं तथा नायिकाओं का सीधा सम्बन्ध भी इसी वर्ग से रहा है । ऐसी परिस्थितियों में जनसामान्य की विचारधारा को अपेक्षित ही किया गया है । इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि सामाजिक प्रतिष्ठा के क्षेत्र में नायक की अपेक्षा नायिकाओं की स्थिति अत्यन्त निम्न है तथा समाज में नायिकाओं की

पवित्रता अधिक संदिग्ध रही है । यद्यपि समस्त भारतीय साहित्य में नारी को आदर्शात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है, किन्तु फिर भी व्यावहारिक रूप में ऐसा नहीं हो पाया है । इसका कारण यह है कि पुरुष-समाज प्राकृतिक रूप से अधिक शक्तिशाली है और उसने इसी शक्ति का प्रयोग नारी का शोषण करने में किया है । समाज में नारी पुरुष की मात्र उपभोग की वस्तु थी । उसी के अनुरूप शास्त्रीय विवेचनाओं में नायिकाएँ व्याख्यात हुई हैं । अर्थात् शास्त्र-वेत्ताओं द्वारा शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में शोषिता नारी का ही अपने ग्रन्थों में शास्त्रीय विभाजन प्रस्तुत किया गया है । परन्तु अधुनातन स्थिति ऐसी नहीं है । आधुनिक युग में नारी को जब राजनैतिक , सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा उत्तरोत्तर मिलती जा रही है तो ऐसी परिस्थितियों में प्राचीन काल में किया गया नायिका विभाजन अपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि प्राचीन काल और मध्यकाल की अपेक्षा आज की नारी की स्थिति अधिक सुदृढ़ है तथा वह अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं स्वरक्षा में पुरुषों के समकक्ष ही प्रगति के प्रत्येक सोपान पर स्थित है । तब प्राचीन काल में किया गया नायिका-विभाजन कहाँ तक उपयोगी एवं न्यायोचित सिद्ध हो सकता है ? यह एक विचारणीय विषय है । यद्यपि

इसमें कोई भी सन्देह नहीं है कि भरत तथा उनके परवर्ती संस्कृत-मनीषियों द्वारा किया गया नायिका- विभाजन उत्कृष्ट है तथापि आज इसमें नूतन सर्जनात्मक परिवर्तन किए जा सकते हैं । जिस प्रकार भरत प्रणीत मत में परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया नूतन परिवर्तन भारतीय नाट्य को पुष्पित-पल्लवित करता है, उसी प्रकार वर्तमान काल में भी यदि उनमें परिवर्तन होंगे तो वे इसकी स्थिति को सुदृढ़ करेंगे, अतः नायिका-विभाजन की प्राचीन परम्परा में नूतन परिवर्तन अपेक्षित है तथा संस्कृत-नाट्य-साहित्य इस परिवर्तन को आत्मसात् करने में सक्षम है ।

" अध्याय - 4 "

"नाट्य में सहायक स्त्री-पात्रों का शास्त्रीय-अध्ययन"

भूमिका -

नाट्य के संविधान में कथानक के चरम उद्देश्य "रस" की चर्वणा कराने हेतु नायक एवं नायिका के अतिरिक्त अन्य सहायक पात्रों की भी नितान्त आवश्यकता होती है । कथानक का गत्यात्मक स्वरूप नायक-नायिका के प्रणयोपचार, तथा अन्य विविध व्यवहार सभी कुछ मात्र नायक और नायिका के द्वारा ही पूर्णरूपेण रङ्गमञ्चित करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि कथानक के अर्थक्रिया-व्यापार में गत्यात्मकता तभी सम्भव होती है, जब नायक या नायिका के अन्तःसंघर्ष से परिपूर्ण उसके चारों ओर घूर्णित होने वाला कथानक सहायक पात्रों द्वारा नाट्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाट्यकारों द्वारा रचा जाता है । यह रचनाधर्मिता अपने उद्देश्य में तभी पूर्ण होती है, जब वह समस्त प्रधान तथा सहायक पात्रों के अन्तःसम्बन्धों के द्वारा सरस होकर सुमनस् सामाजिकों के समक्ष उपस्थित होती है । अनेक ऐसे तथ्य हैं जो मात्र नायक या नायिका के अभिकथन के द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकते तथा आरञ्जक घटनाओं अथवा रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन में निषिद्ध तत्त्वों की सूचना भी केवल नायक या नायिका द्वारा सम्भव नहीं है । इन सभी तत्त्वों की सूचना अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से अधिकांशतः सहायक पात्रों के द्वारा ही नाट्यकारों ने रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने की परम्परा अपनाई है । नायिका की आवश्यकता के साथ-साथ सहायक स्त्री पात्रों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि कथानक की जीवन्तता उसकी गतिशीलता पर ही निर्भर है और यह गतिशीलता सहायक पात्रों के माध्यम से ही सम्भव है ।

नाट्यकार द्वारा नाट्य में नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पात्रों की अभियोजना कथानक को उसके उद्देश्य के श्रेष्ठ बिन्दु तक पहुँचाने में सहायक तत्त्व का कार्य करती है। यद्यपि अन्य स्त्री-पात्रों की भूमिका गौण होती है, तथापि इनसे नायिका के चारों ओर घूर्णित होने वाले कथानक को सहज रूप से सरसता मिलती है, जो कथानक की आवश्यकता भी है। तात्पर्य यह है कि अन्य स्त्री-पात्रों की भूमिका नायिकाओं के अन्तर्द्वन्द्व, प्रणय-व्यापार तथा अभिसरण इत्यादि में सहायता प्रदान करती है। इस दृष्टि से अन्य स्त्री-पात्रों का मूल्य बढ़ जाता है। अस्तु, नायिकाओं की समस्त श्राङ्गारिक चेष्टाओं एवं अन्य सभी स्थितियों में उसकी सहयोगिनी होने के कारण ही इन अन्य स्त्री-पात्रों का नाट्य में अपना एक विशिष्ट एवं अपरिहार्य स्थान है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में विभिन्न प्रकार के अन्य स्त्री-पात्रों की विवेचना की है। इन्हें अन्तःपुर के नाट्योपयोगी स्त्री-पात्र कहा गया है। नाट्य में नायक या राजा का सम्बन्ध नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पात्रों से भी होता है, जिनकी भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ होती है। इन्हीं भिन्न-भिन्न मर्यादाओं के आधार पर ही ऋषि भरत ने उनका नामकरण किया है। भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी कुछ संशोधन के साथ अन्तःपुर के इन्हीं पात्रों को स्वीकार किया है। नाट्यकारों ने अन्तःपुर के पात्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य श्रेणी के स्त्री-पात्रों की समायोजना भी अपने ग्रन्थों में की है, जिनमें से कुछ का उल्लेख शास्त्रीय ग्रन्थों में नहीं मिलता है। सम्भवतया परवर्ती नाट्यकारों द्वारा

किया गया यह परिवर्तन कथानक की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए किया गया है । ऐसी परिस्थिति में हम सर्वप्रथम भरतसम्मत अन्य स्त्री पात्रों की शास्त्रीय विवेचना करेंगे । तदुपरान्त परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट अन्य स्त्री-पात्रों की विवेचना करेंगे । इसके साथ ही साथ नाट्यकारों द्वारा नियोजित अन्य स्त्री-पात्रों के व्यावहारिक पक्ष के आकलन का भी यत्न, प्रस्तुत अध्याय में करेंगे ।

भरत का मत -

भूमिका -

नाट्य का कथानक कालक्रम अथवा पूर्ववर्ती प्रख्यात चरित्रों के आधार पर होता है । इस सहज परम्परा का विकास नाट्य के अत्यन्त प्रारम्भिक काल से किया जाता रहा है, क्योंकि देश के अनुरूप कथानक ही सामाजिकों को सहजता से ग्राह्य होते हैं । यद्यपि नाट्यकार को कल्पित कथानकों को चुनने की स्वतन्त्रता है, किन्तु घटनाओं का निबन्धन इस प्रकार नहीं होना चाहिए कि वे अपने मूल देश-काल से परे की घटनाएँ प्रतीत हों । इसी क्रम में प्रायः प्रख्यात चरित्रों को लेकर तथा उनमें यथोचित परिवर्तन करके नाट्य की कथा को अपने युग के अनुरूप निदर्शित करने की चेष्टा नाट्यकारों द्वारा की जाती रही है । देशकाल में परिवर्तनवशात् पात्रों की योजना में भी परिवर्तन

हो जाता है । जैसा कि हम अपने पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं कि इतिहास के दर्पण में नारियों की दशा सदैव ही परिवर्तित होती रही है । ऐसी परिस्थितियों में नाट्यमें नायिकाओं के साथ-साथ अन्य स्त्री-पात्रों की योजना में भी पर्याप्त परिवर्तन होता रहा है । नाट्य सर्वप्रथम प्रणेता ऋषि भरत ने आभ्यन्तर स्त्री-पात्रों की रूपरेखा अपने नाट्यशास्त्र में प्रस्तुत की है । उनका प्रमुख उद्देश्य नाटकों के प्रख्यात ऐतिहासिक चरित्र को उद्घाटित करना सा प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने मात्र अन्तःपुर में प्रयुक्त होने वाले स्त्री-पात्रों की ही विवेचना की है, किन्तु परवर्ती आचार्य एवं नाट्यकार सम्भवतः उनके मत से सहमत नहीं हैं और उन्होंने समयानुसार उसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन करने की चेष्टा की है । भरत ने अन्तःपुर में प्रयुक्त होने वाले जिन स्त्री-पात्रों[1] की विवेचना अपने नाट्यशास्त्र में की है, वे निम्न है -

महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थापिता, भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्तकी, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणकारिका, महत्तरा, प्रतीहारी, कुमारी, स्थविरा तथा आयुक्तिका ।

§1§ महादेवी -

नायक अथवा राजा के अन्तःपुर में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका वाली नारी-पात्र महादेवी है । वह अवस्था तथा पद-प्रतिष्ठा में अपने

1- नाट्यशास्त्र 24/30-32 §गायकवाड़ ओ0 सी0 §

पति के समकक्ष होती है । नायक अथवा राजा जब किसी अन्य के प्रति आसक्त होता है तो वह व्यथित होती है, किन्तु राजा की मर्यादा को वह कोई हानि नहीं पहुँचाती है । वह अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन उत्कृष्ट रूप से करती है । महादेवी का सम्बन्ध उच्च कुल से होता है । वह अत्यन्त धैर्यशालिनी, समस्त गुणों से युक्त, क्रोध तथा ईर्ष्या से रहित एवं सभी रानियों में श्रेष्ठ मानी जाती है[1] ।

§2§ देवी -

देवी भी महादेवी के सदृश ही गुणयुक्त होती है । वह राजपुत्री होती है । उसमें उदात्तता की अपेक्षा गर्वोक्ति की भावना अधिक होती है । वह वय में अल्पवयस्क होती है तथा अपने गुणों से गर्वित होती है । रूप और यौवन के गुणों से उन्मत्त वह समागम को सदैव तत्पर रहती है । महादेवी तो अन्तःपुर की हितसाधना में व्यस्त रहती है, किन्तु देवी नायक के केवल प्रणय-प्रसंग से जुड़ी रहती है । अन्तःपुर की अन्य गतिविधियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है[2] ।

§3§ स्वामिनी -

स्वामिनी किसी अमात्य अथवा सेनापति की पुत्री होती है ।

1- नाट्यशास्त्र 24/33-35 §गा0 ओ0 सी0§

2- नाट्यशास्त्र 24/36-37 §गा0 ओ0 सी0§

वह रूप, गुण तथा शील-सम्पन्न होती है । बुद्धि-चातुर्य से युक्त होने के कारण राजा अथवा अन्य लोक उसका आदर करते हैं । शील गुणादि से राजा को वह मोहित करने में सक्षम होती है[1] ।

(4) स्थापिता -

स्थापिता रूप-यौवन से सम्पन्न तथा कर्कशा होती है । वह प्रायः निम्नकुलोत्पन्न होती है । वह रति तथा समागम में कुशल, व्यावहारिक कार्यों में दक्ष तथा उदात्त होती है । वह अत्यन्त कुशल तथा सपत्नियों से ईर्ष्या करने वाली एवं राजा से स्वच्छन्द व्यवहार करने वाली होती है[2] ।

(5) भोगिनी -

भोगिनी राजा द्वारा भोग-रखी जाने वाली स्त्रियाँ होती हैं । वह सुशील, अल्पसम्मान वाली, कोमल तथा मध्यस्थ होती हैं[3] ।

(6) शिल्पकारिका -

शिल्पकारिका या शिल्पकारिणी विभिन्न कलाओं तथा शिल्पों में दक्ष, सौम्य एवं विनीत होती हैं । रूप, गुण, शील तथा उदारता से युक्त

1- नाट्यशास्त्र 24/38-39 (गा० ओ० सी०)

2- नाट्यशास्त्र 24/40-42 (गा० ओ० सी०)

3- नाट्यशास्त्र 24/43 (गा० ओ० सी०)

होती हैं । यह पराग और पुष्प के विभाग को जानने वाली, चतुर, मधुर एवं स्फुट वचनों वाली स्त्रियाँ होती हैं[1] ।

(7) नाटकीया -

रस और भाव को जानने वाली, नाट्यप्रवीण, चतुर तथा अन्तर्द्वन्द्व को भली-भाँति जानने वाली, रूप और यौवन से युक्त को नाटकीया समझना चाहिए । वह ग्रहों से छूटने और उसके आसक्त होने के उपाय को भी बताती है[2] ।

(8) नर्तकी -

नर्तकी अत्यन्त धैर्य, सौभाग्य और शील से सम्पन्न, कोमल, सुमधुर तथा नाना प्रकार की कलाओं में निपुण होती है । वह विनय से सम्पन्न तथा हेला भाव से युक्त होती है । वह लज्जारहित, आलस्य को त्यागने वाली तथा नृत्य-गीत में निपुण नाना शिल्पों के प्रयोग को जानने वाली होती है[3] ।

(9) अनुचारिका -

प्रत्येक अवस्था के उपचार में जो राजा को नहीं छोड़ती हैं,

1- नाट्यशास्त्र 24/44-45 (गा0ओ0सी0)

2- नाट्यशास्त्र 24/46-47(गा0 ओ0सी0)

3- नाट्यशास्त्र 24/47-52 (गा0ओ0सी0)

नाट्यकारों द्वारा ऐसी अनुकूल और चतुर स्त्रियों को अनुचारिका संज्ञा प्रदान की गई है[1]।

§10§ परिचारिका -

प्रसाधन इत्यादि का प्रबन्ध करने वाली तथा छत्र धारण करने वाली सेविका को परिचारिका कहते हैं। परिचारिका का प्रमुख धर्म प्रत्येक अवस्था में राजा की सेवा शुश्रूषा करना है। सबको यथोचित प्रसन्न रखना, शय्या ठीक रखना, भोजन की सामग्री लाकर देना, आभरण पहनाना, पुष्प-मालाओं से सज्जित करना और राजा की प्रत्येक आज्ञाओं का पूर्णरूपेण पालन करना परिचारिका के ही कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। वह अत्यन्त चतुर होती है। वे छत्र एवं व्यजन धारण करने वाली भी होती हैं[2]।

§11§ संचारिका -

संचारिका राज-भवन के कक्षों तथा उपवन में आने-जाने वाली, मन्दिर, क्रीड़ा-गृह तथा राजभवन में सेवा करने वाली तथा समय की सूचना देने वाली होती है।[3]

1- नाट्यशास्त्र 24/52-53 §गा0 ओ0 सी0§

2- नाट्यशास्त्र 24/53-55 §गा0 ओ0 सी0§

3- नाट्यशास्त्र 24/55-57 §गा0 ओ0 सी0§

§12§ प्रेषणकारिका -

जो राजाओं के द्वारा काम §रति§ से सम्बन्ध न रखने वाले गूढ और अगूढ विषयों से सम्बन्धित कार्य तथा प्रेषणकार्य में लगाई जाती हैं, वे प्रेषणकारिका होती हैं[1] ।

§13§ महत्तरा -

महत्तराएँ अन्तःपुर की रक्षा करने वाली, राजाओं की स्तुति और मंगलकामना में योगदान देने वाली तथा राजकुल को उन्नति की ओर ले जाने की कामना करने वाली स्त्री-पात्र होती हैं[2] ।

§14§ प्रतीहारी -

प्रतीहारी का प्रमुख कार्य राजा के पास सन्धि तथा सन्धि-विच्छेद सम्बन्धी नाना प्रकार के समाचारों को पहुँचाना है[3] ।

§15§ कुमारी -

पूर्व समागम को अप्राप्त, न सम्भ्रान्त §अर्थात् डरी हुई§ और न तेज़तर्रार, शान्त लज्जायुक्त बालिका को कुमारी जानना चाहिए[4] ।

1- नाट्यशास्त्र 24/57-58 §गा० ओ० सी०§

2- नाट्यशास्त्र 24/59 §गा० ओ० सी०§

3- नाट्यशास्त्र 24/60 §गा० ओ० सी०§

4- नाट्यशास्त्र 24/61 §गा० ओ० सी०§

§16§ स्थविरा या वृद्धा -

वृद्धाएँ राजा द्वारा भी सपूज्या होती हैं। अन्तःपुर के अन्दर और बाहर के समस्त विवरणों की ज्ञाता को वृद्धा की संज्ञा दी गई है। वे राजनीति को पहले से जानती हैं तथा पूर्व राजाओं के द्वारा भी अभिपूजित होती हैं[1]।

§17§ आयुक्तिका -

आयुक्तिका से अनेक कार्य लिए जाते हैं। वह भण्डार-गृह की रक्षिका होती है। आभूषण, वस्त्र तथा मालाओं आदि को व्यवस्थित करना आदि विविध कार्य आयुक्तिका का ही है[2]।

निष्कर्ष -

भरत द्वारा व्याख्यात अन्तःपुर के नाट्योपयोगी पात्रों का विवरण राजदरबार की आवश्यकतानुरूप किया गया विवेचन प्रतीत होता है। ~~तत्कालीन~~ तत्कालीन राजनैतिक स्थिरता इस तथ्य की सुस्पष्ट रूप से परिचायिका है। बदलती राजनैतिक परिस्थितियों में राज्य की अस्थिरतावश आभ्यन्तर स्त्री-पात्रों के कार्योपयोग में भी अन्तर हो जाना इस तथ्य की ओर इंगित

1- नाट्यशास्त्र 24/61-62 §गा0 ओ0 सी0§

2- नाट्यशास्त्र 24/62-64 §गा0 ओ0 सी0§

करता है कि परवर्ती राजनैतिक परिस्थितियों में स्थिरता नहीं रही होगी। भरतप्रणीत अन्तःपुर के नाट्योपयोगी स्त्री-पात्रों को वस्तुतः राजा के अन्तःपुर के कार्यों में विभाजन के आधार पर देखा जाना चाहिए, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक पात्र की उपयोगिता उसके कार्यों के अनुरूप ही निदर्शित करने की चेष्टा की है। यद्यपि कुछ स्त्री-पात्र यथा-महादेवी, देवी इत्यादि राजा की अन्य पत्नियों में स्थान प्राप्त करती हैं, इस कारण से इन्हें भी नायिका के सदृश प्रथम श्रेणी के पात्रों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, किन्तु नाट्यकारों द्वारा इनको विशेष रूप से कोई महत्त्व नहीं दिया गया है, तथापि यह अपने शील, गुण एवं कुल की उच्चता की दृष्टि से नायिका के समान ही गुणों वाली स्त्री-पात्र होती हैं। भरत ने इन्हें नृपपत्नी की श्रेणी प्रदान की है। यह विडम्बना ही है कि प्राचीन काल में राजाओं द्वारा बहुविवाह की प्रथा स्वतन्त्र रूप से अपनाई जाती थी, इस कारणवश परवर्ती नाट्यकारों ने राजा की प्रमुख नायिका को ही कथानक का केन्द्रबिन्दु माना है तथा इन महत्त्वपूर्ण गुण, धर्म वाले स्त्री-पात्रों को गौण श्रेणी में रखा। भरत के अनुसार ये सभी अन्य स्त्री-पात्र यथा-शिल्पकारिणी, भोगिनी, परिचारिका, संचारिका इत्यादि अन्तःपुर के अन्तर्गत आने वाले समस्त कार्यों के सुचारु रूप से संचालन हेतु अपनी उपयोगिता सिद्ध करते हैं। अस्तु, इस दृष्टि से भरतप्रणीत अन्य स्त्रीपात्रों में सामान्यतया एक सीमारेखा निर्धारित है, जो कि राज-दरबार के केवल अन्तःपुर में ही होने वाली कार्य-योजनाओं के अन्तर्गत ही घूर्णित हो सकती हैं। इसके विपरीत ये पात्र अन्तःपुर के बाहर या नायिका की अन्तरंगता को स्पष्ट करने में

पूर्णरूपेण सक्षम नहीं हैं, जैसा कि परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत नूतन स्त्री-पात्र "सखी" के माध्यम से नायिका के सम्पूर्ण अन्तरतम के भावों को उद्घाटित किया जा सकता है । अब हम परवर्ती आचार्यों के मतों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे ।

परवर्ती आचार्यों का मत -

परवर्ती आचार्यों ने भरतप्रणीत आभ्यन्तर स्त्री-पात्रों के अपेक्षा कुछकम संख्या में सहायक स्त्री-पात्रों का उल्लेख अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों ने तत्कालीन परिवर्तित परिवेश के कारण यह परिवर्तन किया है । आचार्य धनञ्जय, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों ने सामान्यतया सहायक स्त्री-पात्रों के विवेचन में एक ही मत प्रस्तुत किया है । सर्वप्रथम धनञ्जय ने दशरूपक में सहायक स्त्री-पात्रों की व्याख्या करते हुए दूतियों, दासी, सखी, निम्न वर्ग की स्त्रियों, धाय की बेटी, पड़ोसिन, संन्यासिनी, शिल्पिनी इत्यादि सहायक स्त्री-पात्रों को स्थान दिया है[1] । परवर्ती आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र नायिकाओं की सहायिकाओं के विषय में बताते कहते हैं कि धाय, परिव्राजिका, पड़ोसिन, शिल्पिनी, दासी और सखी जो (गुप्ता अर्थात्) रहस्य को धारण करने में समर्थ, चतुर, अहंकाररहित और चपलतारहित हों, नायिका की सहायिकाएँ होती हैं[2] । आगे व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि धात्रेयी अर्थात् दूध पिलाने

1- दशरूपक 2/29

2- सहायिन्यस्तु धात्रेयी- लिंगिनी-प्रातिवेशिकाः ।
शिल्पिनी चेटिका-सख्यो गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिराः ।। -नाट्यदर्पण 4/288

वाली धाय, लिंगिनी अर्थात् परिव्राजिका, प्रतिवेशिका अर्थात् समीप रहने वाली पड़ोसिन, शिल्पिनी का तात्पर्य चित्रादि की रचना करने वाली, चेटी अर्थात् दासी, सखी अर्थात् समान गुण वाली एवं मित्रता-प्राप्त स्त्री को कहा गया है । इनके गुणों की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि यह सभी प्रकार की स्त्रियाँ प्रिय के साथ नायिका के मिलन में सहायिका होती हैं तथा ये गुप्ता अर्थात् रहस्य छुपा सकने में समर्थ, दक्षा अर्थात् देश, काल, आचार आदि को समझने वाली, मृदु अर्थात् अहंकाररहित और स्थिरा अर्थात् चपलता-रहित होनी चाहिए[1]।

शारदातनय एवं आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य धनञ्जय एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मतों का ही पिष्टपेषण किया है, क्योंकि ये दोनों ही आचार्य इन सहायक स्त्री-पात्रों के लक्षण एवं गुण-धर्म में कोई नूतन व्याख्या या परिवर्तन करते नहीं परिलक्षित होते हैं[2] ।

उपर्युक्त आचार्यों के मतमतान्तर से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परवर्ती आचार्यों ने नाट्य में सहायक स्त्री-पात्रों को भरत की अपेक्षा कम संख्या में रङ्गमञ्च पर प्रवेश कराने का निर्देश किया है तथा भरतप्रणीत पात्रों के अतिरिक्त कुछ नवीन सहायक पात्रों का उल्लेख किया है, यथा -

---

1- नाट्यदर्पण, सूत्र 288 के उपरान्त व्याख्या ।

2- भावप्रकाशन 4/30, साहित्यदर्पण 3/128

धाय की बेटी तथा सखी । परन्तु फिर भी परवर्ती आचार्य सहायक स्त्री-पात्रों की भूमिका को कोई विशेष महत्त्व देते नहीं प्रतीत होते, क्योंकि इन पात्रों के लक्षण, गुण एवं धर्म आदि की कोई विशिष्ट व्याख्या परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती । इसका कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि परवर्ती काल में रङ्गमञ्च की व्यवस्था में परिवर्तन हो चुका होगा या परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों में आभ्यन्तर स्त्री-पात्रों की उतनी आवश्यकता नहीं रही होगी । कविकुलगुरु कालिदास एवं अन्य श्रेष्ठ कवियों ने श्राङ्गारिक घटनाक्रम के अन्तःसंघर्ष को उद्घाटित करने के लिए "सखी" नामक सहायक स्त्री-पात्र का चयन स्वच्छन्दता से अपने नाट्यों में किया है । उसकी भूमिका कथानक के घटना-क्रिया-व्यापार में अत्यन्त आवश्यक एवं समीचीन प्रतीत होती है, क्योंकि नायिका के अन्तर्मन का प्रकटीकरण इस सहायक स्त्री-पात्र सखी के माध्यम से सहजता से कराया जा सकता है । अस्तु, परवर्ती आचार्यों द्वारा नायिका की "सखी" नामक नूतन पात्र का विलक्षणता से इस पात्र समूह में समावेश किया जाना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि सखी नायक-नायिका की श्राङ्गारिक चेष्टाओं में गोपनीय सहायिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई है । परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं पूर्वोक्त नाट्यकारों के नूतन प्रयोग को दृष्टि में रखते हुए ही सखी को शास्त्रसम्मत आधार प्रदान किया । आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने उसे गुप्ता अर्थात् रहस्य को छिपा सकने में समर्थ तथा देशकाल, आचार व्यवहार में निपुण माना है । इसके साथ ही साथ उसका नायिका के सदृश ही गुण-सम्पन्न होना इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि नायिका की आन्तरिक वृत्ति को उद्घाटित

करने में सखी का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है । नायिका अपने प्रणय-व्यापार द्वारा उत्पन्न अन्तरङ्ग मानसिक भावों को अन्य किसी पात्र की अपेक्षा सखी के समक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट करने में सहजता से समर्थ होती है तथा इसके द्वारा नाट्यकारों को सामाजिकों के समक्ष कथानक के प्रणय-व्यापार के उन रहस्यों को सहजता से सम्प्रेषित करने में सरलता होती है । सम्भवतया इसी कारणवश आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र के परवर्ती आचार्यों तथा नाट्यकारों ने भी सखी नामक पात्र को अपने नाट्य में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । अस्तु, यह कहा जा सकता है कि नायिका की सहायिकाएँ सामान्य रूप से गौण भूमिका वाली होते हुए भी शृङ्गारिक नाट्यों में एक विशिष्ट स्थान रखती हैं, किन्तु कुछ परवर्ती नाट्यकारों ने इन सभी सहायिकाओं से भिन्न कुछ सहायक स्त्री-पात्रों का भी प्रयोग अपने नाट्य में किया है, जिनका उल्लेख न तो भरत के नाट्य-शास्त्र में मिलता है और न ही परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में । ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यकारों ने अपने कथानक को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने हेतु कुछ नवीन पात्रों का सृजन अपने कथानक के अनुरूप करने का भी प्रयत्न किया है । नाट्य के विकास में यह एक नूतन परिवर्तन परिलक्षित होता है, क्योंकि नाट्यकारों द्वारा शास्त्रीय-ग्रन्थों के मतों के विपरीत स्वतन्त्र रूप से कुछ स्त्री-पात्रों का चयन किया गया है । इसको हम नाट्य-प्रयोग के आधार पर मूल्याङ्कित करने का प्रयास करेंगे । संस्कृत-नाट्यकारों द्वारा इतिहास-परक इतिवृत्तात्मक व्यापारों के चयन के कारण शास्त्रीय पात्रों के चयन में अवरोध उत्पन्न हुआ, क्योंकि इतिहास-सम्मत कथानक में पात्रों का चयन ऐतिहासिक आधार पर

ही किया जा सकता है । इसी सन्दर्भ में हम भास-रचित "मध्यमव्यायोग" नाटक में राक्षसी हिडिम्बा के चरित्र का मूल्यांकन कर रहे हैं । राक्षसी हिडिम्बा वस्तुतः ऐतिहासिक मूल्यों की पहचान कराती है । प्रस्तुत नाटक में पात्रों के सन्दर्भ में परम्परा से हट कर एक राक्षसी पात्र का चयन किया जाना इस तथ्य की ओर संकेत देता है कि नाट्यकार कथानकों के चयन में अपनी स्वतन्त्र अस्मिता रखते थे तथा उसी के अनुरूप पात्रों का चयन भी करते थे ।

राक्षसी पात्र हिडिम्बा शास्त्र-सम्मत नहीं है, किन्तु कथानक के अनुकूल इस पात्र का चयन एक मौलिक आवश्यकता रखता है । नाट्यकार भास कथानक के फलागम के समय राक्षसी हिडिम्बा का रंगमंच पर प्रवेश कराते हैं । महाभारत के कथानक के अनुसार आदिपर्व में भीमसेन और हिडिम्बा का प्रेम-प्रसंग वर्णित है । इन्हीं दोनों के प्रणय के फलस्वरूप भीम का पुत्र घटोत्कच उत्पन्न होता है, जो वन में रहता है । उसे अपने पिता की कोई पहचान नहीं है । वास्तव में घटोत्कच द्वारा अपने पिता की पहचान अपनी माता राक्षसी हिडिम्बा के माध्यम से ही होती है । पिता और पुत्र का मिलन भी अन्ततोगत्वा कथानक के अन्त में होना इस बात को सिद्ध करता है कि राक्षसी हिडिम्बा इस नाटक का केन्द्रीय पात्र न होते हुए भी केन्द्रीय भूमिका निभाती है । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि भास द्वारा एक राक्षसी पात्र का अत्यन्त सहजता और सरसता के साथ मानवीकरण किया गया है ।[1] क्योंकि

1- भीमसेन: -जात्या राक्षसी, न समुदाचारेण ।

- मध्यमव्यायोग, पृष्ठ 7।

नाट्य में हिडिम्बा का कथोपकथन ही समस्त घटना-क्रिया-व्यापार का केन्द्र-बिन्दु प्रतीत होता है । फलतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक में एक राक्षसी पात्र को एक जीवन्त भूमिका भास द्वारा प्रदान की गई है ।

हनुमन्नाटक में भी इतिहासपरक इतिवृत्त ही होने के कारणवश नाट्यकार द्वारा राक्षसी पात्रों का भी चयन किया गया है । प्रस्तुत नाटक के अनुशीलन से स्पष्ट है कि रावण नामक राक्षस को अपनी वीरता पर अत्यन्त गर्व था,[1] किन्तु रावण की पत्नी मन्दोदरी और सरमा नामक एक अन्य राक्षसी, दोनों ही राक्षस कुल से सम्बन्ध रखते हुए भी दानवी भाव की अपेक्षा भावनाओं से परिपूर्ण हैं । इस नाटक के नवें अंक में मन्दोदरी रावण को भावनात्मक स्तर पर मानवी एवं नैतिक सीख देने की चेष्टा करती है, जिससे नाट्यकार द्वारा स्पष्टतः सहृदया के रूप में व्याख्यात हुई है ।[2] विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" वाली कहावत को चरितार्थ करता हुआ रावण अपने पराक्रम की मिथ्या सान्त्वना देता हुआअपने अहंकार में ही डूबा रहता है, ऐसे समय में मन्दोदरी द्वारा रावण के मन्त्रियों की भी अपेक्षा अधिक सहज एवं अत्यन्त उचित परामर्श प्रस्तुत नाटक में दिया गया है तथा उस परामर्श को न मानने पर रावण पर करुणा-पूर्ण आक्षेप भी किया गया है ।[3] यद्यपि मन्दोदरी निम्न कुल अर्थात् राक्षस-वंश से

1- हनुमन्नाटक 9/6,11

2- हनुमन्नाटक 9/5,7

3- वही 9/41

सम्बन्धित है, तथापि इतिहास साक्षी है कि उसने अपने चारित्रिक बल पर अपने राक्षसत्व को नष्ट कर दिया।

इसी भाँति प्रस्तुत नाटक में भरत तथा परवर्ती आचार्यों के मत के विपरीत एक अन्य राक्षसी पात्र "सरमा" भी वर्णित है। यह भी राक्षसी होने पर भी आदर्शात्मक मूल्यों का निर्धारण करती है। दसवें अंक में जब रावण ने अपनी माया के बल पर राम के शिर के सदृश ही कटे हुए शिर को सीता के समक्ष प्रस्तुत किया[1] तथा सीता पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालना चाहा कि अब वह विधवा हो गई है, तब ऐसी विकट परिस्थितियों में राक्षसी सरमा ही सीता के समक्ष रावण के मायावी षडयन्त्र को अनावृत करती है,[2] जिसके फलस्वरूप ही सीता के हृदय में अत्यन्त शान्ति की अनुभूति होती है।[3] अन्यथा ऐसी विकट परिस्थितियों में ऐसा सम्भव था कि सीता आत्मोत्सर्ग कर लेतीं।[4] इस प्रकार राक्षसी होते हुए भी सरमा अपने राजा के प्रतिद्वन्दी की पत्नी पर भी उपकार करती है। फलत: हम देखते हैं कि रावण जैसे दुष्ट और वीर व्यक्ति का उसके साम्राज्य में कोई भी इतनी सहजता से विद्रोह नहीं कर सकता था, किन्तु राक्षसी सरमा ने एक स्त्री होते हुए भी उसके मायावी

1- हनुमन्नाटक 10/1

2- वही 10/6

3- वही 10/9

4- वही 10/3,4

चक्र को तोड़ने का जो साहसिक कार्य किया है, वह अत्यन्त श्लाघनीय है । हनुमन्नाटक के अनुशीलनोपरान्त हम यह देखते हैं कि मन्दोदरी एवं सरमा नामक दोनों राक्षसी पात्र मानवीय प्रेरणा के स्रोत हैं तथा निम्न-कुलोत्पन्न होने पर भी उच्च विचार रखती हैं ।

भवभूतिरचित "मालतीमाधवम्" नाटक में कुछ भिन्न प्रकार के पात्रों का चयन किया गया है, जो कि न तो संन्यासी कहे जा सकते हैं, और न ही योगी । प्रस्तुत नाटक में भवभूति ने कपालकुण्डला नामक स्त्री-पात्र का प्रयोग किया है, जो कि कापालिक अघोरघण्ट की शिष्या है । सम्भवतया भवभूति पर अपनी समकालीन सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान तन्त्र-मन्त्र और "अघोरपन्थ" का स्पष्ट प्रभाव था । सम्भवतः तत्कालीन समाज में तान्त्रिक अघोरपन्थी क्रियाओं का अनुष्ठान प्रचलित रहा होगा, जिसके प्रभाव से भवभूति भी अछूते न रह सके होंगे ।

प्रस्तुत नाटक के पाँचवें अङ्क में आकाशमार्ग से भयंकर आकृति वाली कपालकुण्डला का प्रवेश होता है । वह श्रीपर्वत से कराला देवी के दर्शनार्थ आई है ।[1] इधर कथानक का नायक माधव भी अपने हाथों नर-मांस का विक्रय करता हुआ वहाँ आता है । वहाँ कपालकुण्डला द्वारा नायक माधव पहचान

1- मालतीमाधव 5/2,3

लिया जाता है । नायक माधव नायिका मालती के विषय में अत्यन्त चिन्तित है, क्योंकि मालती से उसका मिलन नहीं हो पा रहा है । यहाँ पर कथानक अकस्मात् परिवर्तन लेता है और माधव को मालती का दर्शन कराला देवी के मन्दिर में हो जाता है, जो कि अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला के द्वारा तान्त्रिक अनुष्ठानों के लिए देवी के मन्दिर में लाई गई है, किन्तु जब कपालकुण्डला नायिका मालती के वध के लिए उद्यत होती है, तो अकस्मात् ही माधव उपस्थित हो जाता है तथा कपालकुण्डला से उसकी रक्षा करता है । नायक माधव के प्रहार से अघोरघण्ट मारा जाता है, जिसके फलस्वरूप उसकी शिष्या कपालकुण्डला मालती तथा माधव से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा करती है ।[1] आठवें अङ्क में कपालकुण्डला मालती का अपहरण कर लेती है, किन्तु नवें अङ्क में कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी के द्वारा कपालकुण्डला से मालती की रक्षा की जाती है । सौदामिनी को भी सिद्ध योगिनी के रूप में चित्रित किया गया है, तभी तो नायक माधव के द्वारा मालती के वियोग में अत्यन्त दुःखी होकर प्राणोत्सर्ग के लिए उद्यत होने पर अपनी सिद्धि के बल से सौदामिनी श्रीपर्वत से उड़कर माधव की रक्षा करती है, तभी मालती और माधव का मिलन सम्भव हो पाता है ।

1- कपालकुण्डला- आः पाप दुरात्मन् । मालतीनिमित्तं विनिपातितास्मद्गुरो! माधवहतक ! अहं त्वया तस्मिन्नवसरे निर्दयं निघ्नत्यपि स्त्रीत्यवज्ञाता । (सक्रोधम्) तदवश्यमनुभविष्यसि कपालकुण्डलाकोपस्य फलम् ।

- मालतीमाधव, षष्ठ अङ्क

प्रस्तुत नाटक में भवभूति ने कपालकुण्डला नामक एक विशिष्ट प्रकार के स्त्री-पात्र का प्रयोग किया है, जो आकाशमार्गचारी है तथा तान्त्रिक अनुष्ठान में प्रवीण है । मालतीमाधव का कथानक कपालकुण्डला के कारण ही चामत्कारिक रूप से परिवर्तित होता है, क्योंकि प्रस्तुत नाटक में कपालकुण्डला द्वारा ही संयोग और वियोग की निष्पत्ति हुई है । तात्पर्य यह है कि भवभूति ने कपालकुण्डला नामक स्त्री-पात्र को अपने कथानक में प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि नायक और नायिका का कथानक उसी के चारों ओर केन्द्रीकृत हुआ है । इसके साथ ही साथ ईर्ष्या, क्रोध एवं प्रतिकार आदि चारित्रिक दुर्बलताएँ भी उसके अन्दर विद्यमान हैं, तभी तो तान्त्रिक और अघोरपन्थ की क्रियाओं में किसी की हत्या करना भी वह सहज कार्य मानती है । किन्तु कथानक की दृष्टि से नाट्यकार भवभूति द्वारा उसका प्रणयन अत्यन्त विशिष्टता के साथ हुआ है, क्योंकि नायक और नायिका बार-बार उसके कुचक्र का लक्ष्य बनते हैं । अस्तु, कपालकुण्डला एक निकृष्ट पात्र होने के साथ ही साथ एक महत्त्वपूर्ण स्त्रीपात्र भी है ।

निष्कर्ष -

उपर्युक्त नाटकों के अनुशीलन के आधार पर हम कह सकते हैं कि नाट्यकारों द्वारा अपने नाट्यकाव्यों में भरतानुसारी तथा परवर्ती आचार्यों से भिन्न मत का भी पोषण किया गया है । भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि राक्षस एवं पिशाच आदि पात्र केवल "डिम" में ही प्रयुक्त किए जा सकते हैं तथा इस प्रकार के नाटकों में सात्त्वती और आरभटी

वृत्तियों का ही प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि डिम की भी कथावस्तु प्रख्यात होती है तथा इसका भी नायक प्रसिद्ध और उदात्त होता है, किन्तु श्रृङ्गार एवं हास्य रस का अभाव होता है।[1] किन्तु इन सभी उपर्युक्त नाट्यकारों ने इन राक्षस आदि पात्रों का डिम में नहीं, अपितु नाटक में प्रयोग किया है। अतएव हमने इनकी अलग से विवेचना की है।

1- नाट्यशास्त्र 24/86,87,88,89

भरत ~~एवं परवर्ती आचार्यों~~ द्वारा प्रणीत सहायक स्त्री-पात्रों की समीक्षा -

महादेवी -

अन्तःपुर के सहायक स्त्री-पात्रों में "महादेवी" सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्री-पात्र है, क्योंकि वह नायक अथवा राजा की प्रधान-महिषी होती है। महादेवी अत्यन्त उच्च एवं श्रेष्ठ गुणों से युक्त तथा बुद्धि-चातुर्य से परिपूर्ण होती है। वह अन्तःपुर के आन्तरिक क्रिया-व्यापारों से अभिज्ञ तथा नायक के प्रति पूर्णतया समर्पित होती है। इसके साथ ही साथ जहाँ तक सम्भव होता है, नायक या राजा को अनुचित करने से रोकने का यत्न करती है। क्रोध तथा ईर्ष्या से रहित उसके चरित्र में उदात्त-पक्ष अधिक होता है। महादेवी के इसी स्वरूप का निरूपण अनेक नाटकों में किया गया है। उदाहरणार्थ मालविकाग्निमित्रम् नाटक में रानी धारिणी, विद्धशालभञ्जिका में महारानी मदनावती रत्नावली नाटिका में वासवदत्ता आदि रानियाँ महादेवी के इन्हीं उपर्युक्त गुणों को उद्घाटित करती हैं।

मालविकाग्निमित्रम् के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि राजमहिषी रानी धारिणी सभी रानियों में प्रधान स्थान पर प्रतिष्ठित हैं तथा कुलशील से युक्त है। रानी धारिणी नायक अग्निमित्र का पूर्णरूपेण मंगल चाहने वाली हैं। यद्यपि उन्हें इरावती द्वारा ज्ञात हो चुका है कि

राजा मालविका पर अनुरक्त हैं, फिर भी वे एक पतिव्रता स्त्री की भाँति राजा का उतना ही आदर करती हैं तथा पैर में चोट होने पर भी राजा के आने पर शिष्टाचारवश खड़ी होती हैं[2]। वे अपने स्वामी की वचनानुगामिनी हैं[3]। वे रानी इरावती को भी पातिव्रत्य-धर्म का पालन करने को प्रेरित करती हैं तथा राजा अग्निमित्र को मनाने के लिए कहती हैं[4]। द्रष्टव्य है कि रानी धारिणी सुख-दुःख में समभाव से रहने वाली, धैर्यशालिनी और अपने अपने पति की शुभ-चिन्तक हैं। वे पूर्णरूपेण ईर्ष्या-रहित हैं तथा अपनी सपत्नी से भी ईर्ष्या नहीं करतीं। वे तो वस्तुतः रानी इरावती का मान रखने के लिए ही मालविका और उसकी सखी को बँधवाती हैं, अन्यथा उन्हें जब ज्ञात

1- विदूषकः ततः सा देव्या पृष्टा। किन्त्ववलोकितो वल्लभजन इति।
तयोक्तम्। मन्दो व उपचारः यत्परिजने संक्रान्तं वल्लभत्वं न ज्ञायते।

राजा- अहो निर्भेदादृतेऽपि मालविकायामयमुपन्यासः शङ्कयति।

-मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क

2- मालविकाग्निमित्रम् 4/3

3- देवी - बालिकाः आर्यपुत्रवचनमनुतिष्ठत।
— मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क

4- चेटी - ------------देवी भणति न मे मत्सरस्यैष कालः।---------
---------यद्यनुमन्यसे आर्यपुत्रस्य प्रियं कर्तुं तथा करोमि। यत्तवेष्टं तन्मे भणति।

-मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क

हो जाता है कि राजा मालविका के प्रति अत्यधिक अनुरक्त हैं तो वे स्वयं ही मालविका को सजाकर[1] राजा को समर्पित करती है, जो उनके आदर्शात्मक और महान् रूप को सिद्ध करता है। उनके इस स्वभाव की प्रशंसा अन्त में परिव्राजिका भी करती है[2]। निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि इस सम्पूर्ण नाटक में रानी धारिणी ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है, जो उनकी श्रेष्ठता को सिद्ध करता है। वास्तव में वे महादेवी के समस्त गुणों से पूर्ण हैं।

इसी भाँति राजशेखरकृत "विद्धशालभञ्जिका" की रानी मदनावती भी महादेवी ही हैं। स्वयं राजा विद्याधरमल्ल भी उसे "महादेवी" की संज्ञा से अभिहित करते हैं[3]। उच्च कुल में जन्म लेने के कारण वे अत्यन्त धीर एवं गम्भीर हैं तथा अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित भी हैं। वह अपने स्वामी के प्रणय-प्रसंगों में उचित-अनुचित का ध्यान रखते हुए तथा उनकी श्राङ्गारिक भावनाओं का आदर करते हुए मृगाङ्कावली के साथ-साथ कुवलयमाला का भी

1- विदूषकः ------------------------। तया लविकोषालंकृता मालविका।
तत्रभवती कदाचित्पूरयेद्भवतोऽपि मनोरथम्।

-मालविकाग्निमित्रम्, पञ्चम अंक

2- मालविकाग्निमित्रम् ।9/5।

3- विद्धशालभञ्जिका नाटिका, तृतीय अङ्क, पृष्ठ 91।

विवाह राजा के साथ स्वयं ही सहर्ष करवाती हैं[1]। वे अपनी सपत्नियों से कोई ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखतीं, तभी तो वे विद्वेषरहित होकर उनसे परिहास भी करती हैं[2] तथा अपने पति का विवाह सपत्नियों से पूर्ण विधि-विधान से सम्पन्न करवाती हैं[3]। उन्होंने अपने पातिव्रत्य-धर्म का भी पालन सहजता एवं कुशलता से किया है। उनका स्वयं का यह अभिमत है कि महाकुल में उत्पन्न स्त्री के लिए अपने स्वामी का जिसमें प्रिय हो, उसी में उसका अपना प्रिय होता है[4]। फलतः हम यह कह सकते हैं कि रानी मदनावती अत्यन्त धीर, गम्भीर, शान्त, धैर्यशालिनी पतिव्रता और अन्तःपुर के समस्त आन्तरिक कलह का सहजता से निवारण करने वाली प्रधान महिषी हैं, क्योंकि वे बिना ईर्ष्या-द्वेष के सभी से समभाव से व्यवहार करती हैं। इन सभी उपर्युक्त गुणों से युक्त होने के कारण उन्हें महादेवी कहा जा सकता है।

1- कुरङ्गिका - जयतु भर्त्ता। देवी विज्ञापयति-आसन्नं विवाहलग्नं तदिदं विवाहनेपथ्यमङ्गलं कृत्वाधिष्ठीयतां विवाहचतुष्किका।

-विद्धशालभञ्जिका, चतुर्थ अङ्क।

2- देवी - (अपवार्य) वत्से कुवलयमाले, पश्यात्मनो भर्तुः श्लिष्टं महिलावेषम्

-विद्धशालभञ्जिका, चतुर्थ अङ्क।

3- देवी - -------------------------। साम्प्रतं भ्रामरीः करोतु महाराजः। दीयन्तामाज्यप्रज्ज्वलिते हुतवहे लाजाः।

-विद्धशालभञ्जिका, चतुर्थ अङ्क।

4- ब्राह्मणी -------------------------यतो महाकुलप्रसूतानां भर्तृप्रियमेवात्मनः प्रियमिति।

-विद्धशालभञ्जिका, चतुर्थ अङ्क।

देवी -

महादेवी उदात्त पक्ष से पूर्ण चरित्र है, जब कि देवी नारी सुलभ ईर्ष्या से युक्त चरित्र है । इसका प्रमुख कारण यह है कि महादेवी अपने वय की मध्य अवस्था में रहने के कारण मानसिक रूप से पूर्ण विकसित एवं उच्च स्तर की होती हैं, किन्तु देवी एक ऐसा चरित्र है, जो नायक पर अपना एकाधिकार स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा करती है,। किन्तु अन्ततोगत्वा उसे अपनी परिस्थितियों से समझौता करना पड़ता है । यद्यपि महादेवी की अपेक्षा देवी कुछ अल्प-गुणों से युक्त स्त्री-चरित्र है तथापि देवी की उत्कृष्टता भी कुछ कम नहीं । निस्सन्देह देवी अल्प वय वाली होने के कारण अपने गुणों पर गर्व करने वाली तथा दर्प-युक्त होती है । अपनी सपत्नियों से ईर्ष्या करती है तथा राजा के प्रणय-प्रसंगों में भाँति-भाँति की बाधाएँ उत्पन्न करने की योजनाएँ भी बनाती है, किन्तु सामाजिक परिस्थितियाँ उसके विपरीत होकर नायक के पक्ष में होती जाती हैं । अपने पति के बहु-विवाह करने पर नारीसुलभ ईर्ष्या का उत्पन्न होना अवश्य सम्भव है, क्योंकि सपत्नियों के आने से उनके अधिकार सीमित हो जाते हैं । अतः देवी के चरित्र का यह पक्ष प्रकृतिजन्य ही है, क्योंकि मानव सहजता से अपने अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहता । अतएव हम यह कह सकते है कि महादेवी का चरित्र उदात्त एवं उदार है, किन्तु देवी समाज की वह इकाई है,जो अपने अधिकारों के प्रति संघर्ष के लिए सदैव ही तत्पर है ।

कालिदासकृत "मालविकाग्निमित्रम्" में रानी इरावती का चरित्र "देवी" के गुणों से सामंजस्य रखता है तथा इसी भाँति राजशेखरप्रणीत "कर्पूरमञ्जरी" में रानी विभ्रमलेखा भी "देवी" के गुणों के अनुकूल ही दिखाई पड़ती है। सर्वप्रथम हम मालविकाग्निमित्रम् की रानी इरावती को कुछ विशिष्ट उद्धरणों के द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि देवी के चरित्र को सार्थक रूप से प्रकट करने में वह कहाँ तक समर्थ हुई है। रानी इरावती को जब राजा के प्रेम का पता चलता है तो वह चिन्तित हो उठती है[1]। तृतीय अङ्क में राजा के प्रति अविश्वास प्रकट करती है और यहाँ तक कि उससे अपशब्द कहने में भी तनिक भी संकोच नहीं करती है[2]। तृतीय अङ्क के अन्त में रानी इरावती राजा अग्निमित्र, विदूषक, मालविका और बकुलावलिका सभी पर क्रुद्ध होती है। राजा के द्वारा क्षमा-याचना करने पर भी वह कोई ध्यान नहीं देती है तथा राजा को प्रताड़ित करती हुई वहाँ से चली जाती है[3]। इसके पश्चात् रानी इरावती रानी धारिणी से कह कर मालविका और बकुलावलिका को कैद भी करवा देती है, जिसकी सूचना विदूषक द्वारा मिलती है[4]। रानी इरावती

1- मालविकाग्निमित्रम् 3/13 के पहले इरावती का संवाद

2- शठ। अविश्वसनीयहृदयोऽसि।

—मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क।

3- मालविकाग्निमित्रम् 3/23 के पहले इरावती का कथन।

4- विदूषकः – सा खलु तपस्विनी तया पिङ्गलाक्ष्या सारभाण्डगृहे गुहायामिव निक्षिप्ता।

—मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क

ईर्ष्या, द्वेष और पति पर एकाधिकार चाहने वाली चेष्टाओं से परिपूर्ण है। किन्तु इसके साथ ही साथ अन्त में उसके चरित्र का उदात्त पक्ष भी स्पष्ट होता है, क्योंकि सभी ईर्ष्या-द्वेष पूर्ण कार्य करने के उपरान्त अन्ततोगत्वा उसे अपने द्वारा किए गए सभी कार्य अपराध से प्रतीत होते हैं और वह राजा से क्षमा माँगने में भी कोई संकोच नहीं करती। इस भाँति हम देखते हैं कि महादेवी रानी धारिणी के चरित्र के विपरीत रानी इरावती "देवी" के गुणों से युक्त नारी-पात्र है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि ने एक ओर तो रानी धारिणी को प्रधान-महिषी के रूप में चित्रित किया है, वहीं दूसरी ओर रानी इरावती के चरित्र को "देवी" के रूप विकसित किया है, इसका प्रमुख कारण यह है कि नाट्य में प्रधान महिषी का स्थान एक ही होता है तथा तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में भी प्रधान-महिषी एक ही होती थी।

राजशेखरकृत "कर्पूरमञ्जरी" में रानी विभ्रमलेखा "देवी" के अनुरूप ही चरित्र उद्घाटित करती हैं। यद्यपि वह कुल और गुणों में महादेवी के अनुरूप ही हैं, किन्तु संस्कारों से हीन हैं। वह अपनी सपत्नियों से ईर्ष्या करने वाली "देवी" के गुणों से युक्त हैं। वे राजा और कर्पूरमञ्जरी के एकान्त-मिलन का समाचार पाकर वहाँ जाती भी हैं[1]। वह अपने गुणों पर अभिमान करने

1- कुरङ्गिका - प्रियसखि! भट्टारकस्य वञ्चनां कृत्वा त्वया सह सङ्गमं ज्ञात्वा आगच्छति देवी, तेन कब्ज-वमन-किरात-वर्षवर-सौविदल्लानामेष कोलाहलः।

-कर्पूरमञ्जरी, तृतीय जवनिकान्तरम्।

वाली भी है । सपत्नियों से ईर्ष्या-द्वेष भाव के कारण ही वह नायिका कर्पूर-मञ्जरी को सैनिकों के संरक्षण में भी रखने की दुश्चेष्टा करती है[1] । यहाँ पर स्पष्ट है कि रानी विभ्रमलेखा नायिका कर्पूरमञ्जरी का मिलन नायक चन्द्रपाल से सहजता से नहीं होने देना चाहती हैं । वह भरत के निर्देशों के अनुरूप तथा कथानक के अनुसार "देवी" के ही गुणों से युक्त हैं । अतः वह"देवी" ही कही जाएँगी ।

शिल्पकारिणी -

राजाओं के अन्तःपुर में कलात्मक अभिरुचि रखने वाली तथा मधुर, दक्ष और सौम्य स्त्री-पात्र शिल्पकारिणी के रूप में अनेक नाटकों में प्रयुक्त की गई हैं । वस्तुतः शिल्पकारिका विभिन्न शिल्पों का अभिज्ञान रखने वाली और समय-समय पर नायिका को अपनी शिल्प-कलाओं से प्रभावित करने वाली तथा उसे पूर्ण सहयोग प्रदान करने वाली स्त्री-पात्र है ।
हर्षप्रणीत रत्नावली नाटिका में नायिका सागरिका की सखी सुसंगता वस्तुतः शिल्पकारिणी है । कथानक के अनुसार द्वितीय अङ्क में कामपीड़ित सागरिका जब कदलीकुंज में अकेले ही जाकर राजा का चित्र बनाती है और सुसंगता के

1- कर्पूरमञ्जरी, चतुर्थ जवनिकान्तरम्, द्रष्टव्य श्लोक 9 के पश्चात् विदूषक संवाद, पृष्ठ 213 से लेकर पृष्ठ 217 तक ।

पूछने पर उसे कामदेव का चित्र बताती है, किन्तु चतुर, मधुर, दक्ष तथा सौम्य वचन वाली सुसंगता जानती है कि यह नायक उदयन का चित्र है, इसलिए रति के रूप में सागरिका का भी चित्र उसके साथ बना देती है। सागरिका राजा के साथ अपना चित्र देखकर सुसंगता पर अत्यन्त कुपित होती है, किन्तु सुसंगता जो स्वभावतः सौम्य है, हँसकर अपनी प्रिय सखी के द्वारा रोष करने पर भी बुरा नहीं मानती है तथा अपनी सखी सागरिका से पूर्ण वृत्तान्त जानने की चेष्टा करती है[1]। वह अपनी काम-पीड़ित सखी के लिए कमलिनी-पात्रों से शय्या तथा मृणाल से कंकण बनाकर उसके वक्ष पर रखती है[2]। ज्ञातव्य है कि शिल्पकारिणी का गुण है कि वह विशेष प्रकार के शिल्पों, सुगन्ध, पुष्प तथा चित्रकला का ज्ञान रखती है। हम देखते हैं कि सुसंगतता उपर्युक्त समस्त गुणों से विभूषित है तथा शिल्पकारिका के गुणों के अनुरूप ही आचरण करती है। इसके साथ ही साथ शिल्पकारिका का प्रधान गुण चित्रकला का ज्ञान उसमें पूर्ण परिपक्व रूप से विद्यमान है, क्योंकि राजा और विदूषक उसके चित्रकला ज्ञान की प्रशंसा भी करते हैं[3]। अतएव रत्नावली नाटिका में सुसंगता शिल्पकारिणी के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

1- सुसंगता - सखि ! किमकारणं कुप्यसि । --------------------
--------------कथय तावत्सर्वं वृत्तान्तम् ।

-रत्नावली नाटिका, द्वितीय अङ्क ।

2- सुसंगता - सखि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । यावदस्या दीर्घिकाया नलिनीपत्राणि मृणालिकाश्च गृहीत्वा लघ्वागच्छामि ।

-रत्नावली नाटिका, द्वितीय अङ्क ।

3- सागरिका - त्वमेव श्रृणु यस्या आलेख्यविज्ञानमेवं वर्ण्यते ।

-रत्नावलीनाटिका, द्वितीय अङ्क ।

परिचारिका -

परिचारिका राजदरबार में रहने वाली एक महत्त्वपूर्ण स्त्री-पात्र है तथा प्रायः राजवृत्तप्रधान नाटकों में वह प्राप्त होती है । परिचारिका राजा की व्यक्तिगत परिचर्या करने वाली स्त्री-पात्र है । इन सभी लक्षणों से युक्त परिचारिका नामक स्त्री-पात्र राजशेखरकृत "विद्धशालभञ्जिका" में प्राप्त होती है । कथानक के अनुसार राजा विद्याधरमल्ल को चक्रवर्तित्व प्राप्त कराने हेतु प्रयत्नशील महामन्त्री भागुरायण की विश्वस्त परिचारिकाओं में परिचारिका विचक्षणा अपना प्रमुखतम स्थान रखती है । साथ ही साथ परिचारिका विचक्षणा नायिका मृगाङ्कावली की प्रिय सखी भी है । उदाहरणार्थ महाराज के प्रति मृगाङ्कावली के अनुरागवर्धन से लेकर पारस्परिक मिलन के प्रत्येक अवसर पर विचक्षणा उपयुक्त सहायता देती हुई प्रतीत होती है । वह अत्यन्त सरल प्रवृत्ति की है तथा कार्य सम्पादन में अत्यन्त दक्ष है । एक प्रकार से वह नायिका मृगाङ्कावली की संरक्षिका जैसा कार्य करती है । बुद्धि चातुर्य के कारण उसे विदूषक चारायण तथा महाराजा विद्याधरमल्ल का भी विश्वास तथा आदर प्राप्त है[1] । वह राजसेवा एवं राजनीति में भी अत्यन्त निपुण है[2] तथा अपने

1- सुलक्षणा - अहो ते मतिविभवो येनेदानीं महान्त्वयपि एवं सम्भावयति । ---

-विद्धशालभञ्जिका, तृतीय अङ्क ।

2- सुलक्षणा - (सोपहासम्) को युष्मत्तोऽन्यः षाड्गुण्यनिपुणः ।

विद्धशालभञ्जिका, तृतीय अङ्क।

स्वामिभक्ति के कर्तव्य का पूर्णतः पालन करती है[1]। विचक्षणा के सुपात्र होने का परिचय उसके द्वारा संस्कृत भाषा में प्रयुक्त संवादों से भी मिलता है[2], क्योंकि परिचारिकाएँ साधारणतया प्राकृत भाषा का प्रयोग करती हैं।

प्रतीहारी -

"प्रतीहारी" शब्द "प्रतीहार" से बना है। प्रतीहार का अर्थ है "द्वारभूमि" और प्रतीहारी का अर्थ है द्वार-देश में रहने वाली ड्योढ़ीवान या ड्योढ़ी पर बैठने वाली। इसलिए इसे द्वारपालिका या द्वाररक्षिका भी कहते हैं। यह राजा के दरबार में द्वार-देश में तो रहती ही हैं, साथ ही साथ जब राजा वन-विहार के लिए जाता है तब भी राजा के पड़ाव के स्थान पर द्वार पर रहती हैं। इनके हाथ में एक दण्ड या छड़ी भी रहती है। इनका प्रमुख कार्य सभी समाचारों को राजदरबार में सम्प्रेषित करना होता है। इन्हीं सब गुणों से युक्त स्त्री-पात्र "मालतीमाधव" नाटक के द्वितीय अङ्क में प्रयुक्त है। इस नाटक के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि जब बौद्ध संन्यासिनी कामन्दकी

1- विचक्षणा - सखि मृगाङ्कावलि, फलितं मे दूतीत्वेन, यन्महाराजोऽपि एतादृशमवस्थान्तरमुद्वहति।

-विद्धशालभञ्जिका तृतीय अङ्क।

2- विद्धशालभञ्जिका 3/1,2.

मालती के कहीं अन्यत्र विवाह की सूचना देने के लिए उपस्थित होती हैं तो उसकी उपस्थिति की सूचना प्रतीहारी के माध्यम से होती है[1] तथा प्रतीहारी यह भी बताती है कि वह स्वामी की कन्या देखने के लिए आई हैं। अस्तु, प्रतीहारी का कार्य मात्र सूचनाओं का सम्प्रेषण ही है, जैसे भवभूति ने बौद्ध संन्यासिनी कामन्दकी के प्रवेश की सूचना प्रतीहारी के ही माध्यम से दी है।

नाटक तापसवत्सराज में भी प्रतीहारी के माध्यम से सूचना देने का कार्य कराया गया है। इस नाटक में मन्त्री यौगन्धरायण राज्य पर आए संकट के निवारण के लिए महारानी वासवदत्ता को लामकायन ब्राह्मण द्वारा एक पत्र भेजता है तथा वासदवदत्ता को इस पत्र-वाहक के आगमन की सूचना प्रतीहारी के ही माध्यम से होती है[2]। पुनश्च प्रतीहारी रानी की आज्ञा प्राप्त करके[3] पत्र-वाहक को पुनः सूचित करती है कि वह अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है। अतः सिद्ध है कि प्रतीहारी का प्रमुख कार्य अन्तःपुर में सूचनाओं का आदान-प्रदान करना है। यहाँ पर रंगमंच पर

1- प्रतीहारी - एषा भगवती कामन्दकी।

-मालतीमाधवम्, द्वितीय अङ्क।

2- प्रतीहारी - उज्जयिनीतो लेखेन मनुष्य आगतः।

-तापसवत्सराजचरितम्, प्रथम अङ्क।

3- वासवदत्ता - हला, विश्रामय त्वरितकम्।

-तापसवत्सराजचरितम्, प्रथम अङ्क।

प्रतीहारी के माध्यम से ही रानी को पत्र प्राप्त होने की सूचना प्रदान की गई है ।

निष्कर्ष -

उपर्युक्त विवेचित नाट्य-प्रयोगों में कुछ विशिष्ट मध्यम तथा अधम श्रेणी के स्त्री-पात्रों की विवेचना की गई है । भरतप्रणीत मत में मध्यम और अधम श्रेणी के स्त्री-पात्रों में अनेक ऐसे स्त्री-पात्र हैं जो रंगमंच पर क्षणिक रूप से उपस्थित होते हैं तथा फिर विलुप्त हो जाते हैं । ऐसी स्थितियों में अन्य सभी अधम स्त्री-पात्रों का शास्त्रीय रूप से मूल्यांकन करना सम्भव या न्यायोचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि वे कथानक में कोई प्रमुख भूमिका नहीं निभाते हैं । उदाहरणार्थ कुछ स्त्री-पात्र महत्तरा, कुमारी, स्थविरा, नर्तकी, नाटकीया, आयुक्तिका आदि अन्य सभी स्त्री-पात्र अत्यन्त साधारण हैं तथा नाट्यकारों ने इनका प्रयोग अत्यन्त अल्प-मात्रा में किया है । इस कारण ये सभी उपेक्षित सी हैं ।

परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत सहायक स्त्री-पात्रों की समीक्षा -

परवर्ती आचार्यों एवं नाट्यकारों ने (यथा-कालिदास एवं अन्य प्रमुख नाट्यकारों ने) सखी नामक पात्र को उसके विशिष्ट महत्त्व को समझते हुए अपने नाटकों में अपरिहार्य रूप से समावेश कराया है । यद्यपि

भरतप्रणीत शास्त्रीय-सिद्धान्तों में सखी नामक स्त्री-पात्र का कहीं भी कोई उद्धरण नहीं मिलता । इसके शास्त्रीय रूप का वर्णन दसवीं शताब्दी में परवर्ती आचार्य धनञ्जय, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ आदि करते हैं । सखी नामक स्त्री-पात्र वस्तुतः अपनी एक विशिष्ट एवं अभिनव भूमिका रखती है, क्योंकि नायिका के ही समान गुणों वाली स्त्री उसकी सखी होती है, जो रहस्यों को गुप्त रखने में समर्थ, प्रत्येक क्षेत्र में दक्ष, देशकाल और आचार-व्यवहार को समझने वाली, मृदुभाषिणी तथा अहंकार-रहित होती है । सखी की विशिष्टता इस सन्दर्भ में भी कुछ प्रमुख होती है कि नायिका के प्रेम-प्रसंग के समय उसकी अन्तरंग अनुभूतियों का प्रस्फुटन सखी के माध्यम से ही नाट्यकारों द्वारा सहजता से कराया जाता है । सामाजिक दबाव एवं कुल-मर्यादा के कारण नायिका अपनी अन्तरंग स्थितियों का प्रकटीकरण अन्य पात्रों के समक्ष नहीं कर सकती है । ऐसी स्थिति में कथानक में गुह्यता आ जाएगी और वह सहज-सरस अनुभूति कराने में असमर्थ हो जाएगा, इसी कारणवश प्रबुद्ध एवं दूरदृष्टि वाले कवि नायिका की आन्तरिक स्थितियों का अनावरण करने हेतु सखी नामक पात्र द्वारा नाट्य को गतिशीलता प्रदान करते हैं । वास्तव में नाट्य की गतिशीलता ही उसकी जीवन्तता है, जिससे भाव-सम्प्रेषण की प्रक्रिया सहज हो जाती है और सुमनस् सामाजिक उसे आत्मसात् करने में सहजता से समर्थ होता है । अतः हम कह सकते हैं कि सखी ऐसी विशिष्ट लक्षण-युक्त स्त्री-पात्र है जो नायिका के शाङ्गारिक अवलम्बनों का एकमात्र आश्रय होती है, क्योंकि शाङ्गारिक अवस्थाओं में नायिका के मानसिक क्रिया-व्यापार का बोध सखी

ही कराती है । अतः सखी संस्कृत-नाट्य का एक अनूठा स्त्री-पात्र है । इस सन्दर्भ में "अभिज्ञान-शाकुन्तलम" की सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा अपना एक प्रमुख स्थान रखती है । विवेच्य है कि "मालविकाग्निमित्रम्" में मालविका की सखी बकुलावलिका भी अपनी प्रिय सखी के कारण अनेकों कष्ट उठाती है । "मालतीमाधवम्" में मालती की सखी लवङ्गिका तथा "उत्तररामचरितम्" में सीता की सखी वासन्ती हैं । "रत्नावली नाटिका" में सुसंगता, "चन्द्रकला"-नाटिका में नायिका चन्द्रकला की सखी सुनन्दना तथा "स्वप्नवासवदत्तम्" में नायिका पद्मावती की सखी के रूप में स्वयं नायिका वासवदत्ता की योजना की गई है । प्रथमतः हम अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में वर्णित सखी द्वय अनसूया और प्रियंवदा के नाट्यशास्त्रीय रूप का मूल्यांकन करेंगे -

नाटकीय कथावस्तु के विकास की दृष्टि से नायिका शकुन्तला की दो प्रिय सखियाँ अनसूया और प्रियंवदा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं, क्योंकि शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रणय-गाथा इन दोनों सखियों के माध्यम से ही संवर्धित होती है । महाकवि कालिदास ने नाट्य के उदात्त-पक्ष को उद्घाटित करने के हेतु तथा महाभारतीय शकुन्तला के स्वेच्छाचार एवं स्वैर व्यवहार से भिन्न एक सुचरित चरित्र प्रस्तुत करने के लिए इन दोनों सखियों की योजना की है । अनसूया और प्रियंवदा शकुन्तला की अत्यन्त प्रिय सखियाँ हैं । वय में तीनों समानता रखती हैं । दोनों सखियों का शकुन्तला से निश्छल एवं निःस्वार्थ प्रेम है । दोनों सखियाँ शकुन्तला को सदैव प्रसन्न रखने के लिए सतत

प्रयत्नशील रहती हैं । राजा की प्रेमगत अवस्था का ज्ञान हो जाने पर वे शकुन्तला से मिलन का मार्ग प्रशस्त करती है । दोनों ही शिष्ट, विनीत, मधुरभाषिणी और वाक्-पटु हैं । दुर्वासा के शाप से दोनों सखियाँ अत्यन्त व्यथित होती हैं ।[1] इसके साथ ही साथ दोनों सखियाँ शकुन्तला के अपने प्रिय से मिलन के लिए गुप्त रूप से योजना बनाती हैं ।[2] यह गुप्त रखने वाला गुण ही सखी के चरित्र का आवश्यक एवं प्रबल पक्ष है । अपनी सखी शकुन्तला के अपने अनुकूल पति को प्राप्त कर लेने पर ही सखी अनसूया का मन शान्त होता है ।[3] परन्तु जब शकुन्तला अपने पति-गृह जाने लगती है तो दोनों ही बहुत व्यथित होती हैं ।[4] वे दोनों ही अपनी प्रिय सखी की श्राङ्गारिक चेष्टाओं

1- प्रियंवदा- हा धिक्, हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा-शून्यहृदया शकुन्तला । न खलु यस्मिन् कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभ-कोपो महर्षिः ।

तथा

यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन् ! प्रथम इति प्रेक्ष्या-विज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति ।

– अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क ।

2- हला ! मदनलेखोऽस्य क्रियताम् । तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवप्रसादस्यापदेशेन तस्य हस्तं प्रापयिष्यामि । – अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क

3- हला प्रियंवदे ! यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शाकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयम् —— । अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क

4- सख्यौ- हा धिक्, हा धिक् । अन्तर्हिता शकुन्तला वनराज्या । तात । शकुन्तला-विरहितं शून्यमिव तपोवनं कथं प्रविशावः ?

– अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अङ्क ।

की संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। एक ओर अनसूया अत्यन्त गम्भीर, नीर-क्षीर विवेक वाली, चतुर, प्रौढ़ एवं परिपक्व बुद्धि वाली स्त्री-पात्र है, तो दूसरी ओर प्रियंवदा अत्यन्त मधुर-भाषिणी, विनोदशीला और चंचला बाला है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि महाकवि कालिदास ने नाटकीय संविधान के अनुसार शकुन्तला के उदात्त चरित्र-चित्रण हेतु इन दो सखी-पात्रों का समावेश अपने नाटक में कराकर सुमनस् सामाजिकों के समक्ष एक अत्यन्त विचारोत्तेजक भाव-प्रवण कथानक प्रस्तुत किया है। इन दोनों सखी-पात्रों के बिना शकुन्तला का चरित्र अपूर्ण और एकांगी रह जाता। अतः नाटकीय संविधान की दृष्टि से कालिदास की ये दोनों नारी-पात्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इसी प्रकार "मालविकाग्निमित्रम्" नाटक में भी मालविका की सखी बकुलावलिका भी अपनी प्रिय सखी मालविका के लिए अनेक कष्टों का सामना करती है। राजा अग्निमित्र का प्रणय-व्यापार मालविका की सखी बकुलावलिका के माध्यम से ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि मालविका के हृदय में राजा के प्रति प्रेम का बीज बकुलावलिका ने ही बोया था।[1] इसके साथ ही साथ जब रानी इरावती को ज्ञात होता है कि राजा और मालविका के प्रणय-प्रसंग में यह बकुलावलिका सहायता प्रदान करती है तो वह रानी धारिणी

1- मालविकाग्निमित्रम्, 3/14 ।

के द्वारा मालविका के साथ-साथ बकुलावलिका को भी कैद कराकर उसके पैरों में बेड़ियाँ डलवा देती है ।[1] ध्यातव्य है कि सच्ची सखी होने के कारण ही बकुलावलिका को भी कैद और बेड़ियों की सजा भुगतनी पड़ी, यह उसके उत्कृष्ट चरित्र का द्योतक है । वह अपनी प्रिय सखी और राजा के प्रेमालाप करते समय विदूषक के साथ मिलकर उनकी रखवाली भी करती है ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि बकुलावलिका अत्यन्त बुद्धिप्रवण तथा अपनी सखी मालविका के प्रति समर्पित भाव से युक्त एक उदात्त गुण-सम्पन्न स्त्री-पात्र है, जो नायक और नायिका को प्रत्येक दशा में सहयोग प्रदान करती है । वस्तुतः यही स्थिति तो सखी के गुणों की उत्कृष्ट स्थिति है, जिसे बकुलावलिका पूर्णरूपेण सिद्ध करती है ।

धायित्री या धाय की बेटी -

सखी के पश्चात् परवर्ती आचार्यों ने प्रमुख रूप से धायित्री का वर्णन किया है । धायित्री अथवा धाय की बेटी अन्तःपुर की एक सुयोग्य पात्र होती है । यह भी नायिका से मित्रवत् व्यवहार करके उसके प्रिय के मिलन में सहयोग प्रदान करती है । धायित्री को कभी-कभी दासत्व का कर्तव्य भी करना पड़ता है ।

1- ----------तेन खलु बहुमानं वर्धयितु वयस्यया सह निगडबन्धने कृता मालविका ।

- मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क

2- बकुलावलिका-आर्यगौतम । अहमप्रकाशे तिष्ठामि । त्वं द्वाररक्षको भव ।

- मालविकाग्निमित्रम्, चतुर्थ अङ्क ।

राजशेखरप्रणीत विद्धशालभञ्जिका नाटिका में मेखला तथा मालती-माधवम् नाटक में लवङ्गिका धाय की पुत्री के रूप में चित्रित हैं। विद्धशाल-भञ्जिका की मेखला महारानी मदनावती की अत्यन्त विश्वस्त परिचारिका है, जो महारानी से अत्यधिक आत्मीयता एवं अन्तरङ्गता रखती है। गुणों से वह सम्पन्न है। वह राजनीति का भी ज्ञान रखती है। वह महारानी को प्रसन्न करने के लिए विदूषक चारायण का मिथ्या विवाह करवाती है। इस कारण से वह विदूषक द्वारा अनेक कटु वचन भी सुनती हैं।[1] अन्तःपुर में वह महारानी मदनावती की प्रतिष्ठा का सदैव ध्यान रखती है। महारानी की अत्यन्त विश्वासपात्र एवं आत्मीय होने के कारण उसका कोई भी अनिष्ट नहीं कर पाता है। स्वयं महारानी भी उसका उपहास होना सहन नहीं कर पाती है।[2] यद्यपि स्वार्थवश महारानी की चाटुकारिता करना उसका प्रमुख गुण है।

संन्यासिनी -

परवर्ती आचार्यों ने सहायक स्त्री-पात्रों के अन्तर्गत संन्यासिनी या परिव्राजिका का भी वर्णन किया है। यद्यपि यह पात्र अत्यल्प संख्यक

1- आः दास्याः दुहितः, पुराणकुट्टनि, मकरदंष्ट्रे, भ्रमण्टेण्टे, टेण्टाकारिणी, कोशवर्धिनि, रथ्यालुण्ठिनि, दुष्टसङ्घादृष्टे, विषमकर्तरि, वञ्चितोऽस्मि त्वया, तद् रक्षस्वात्मानम्। -विद्धशालभञ्जिका, द्वितीय अङ्क।

2- देवी- आर्यपुत्र, युक्तमेतत् सदृशमेतत्, यदिदानीं मे प्रियसखी मेखला एवं विडम्ब्यते। — विद्धशालभञ्जिका, द्वितीय अङ्क।

नाट्य कृतियों में ही परिलक्षित होता है, तथापि नाटकीय व्यापार में इनका एक विशिष्ट स्थान होता है । तापसी वृत्ति की होने के साथ-साथ यह राजकीय घटनाओं में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । अनङ्गहर्षप्रणीत तापसवत्सराजनाटक में सांकृत्यायनी, मालतीमाधवम् नाटक में कामन्दकी, मालविकाग्निमित्रम् में कौशिकी परिव्राजिका तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में गौतमी के रूप में यह संन्यासिनी चित्रित है ।

अनङ्गहर्षप्रणीत तापसवत्सराज नाटक में सन्यासिनी सांकृत्यायनी एक महत्त्वपूर्ण स्त्री-पात्र है, क्योंकि कथानक को अपनी पूर्णता के लिए परिव्राजिका सांकृत्यायनी के द्वारा ही दो उद्देश्यों की प्राप्ति होती है । प्रथमत: संन्यासिनी सांकृत्यायनी राजकुमारी पद्मावती को उदयन के प्रति आकर्षित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है,[1] द्वितीयत: महाराज उदयन की प्रथम पत्नी वासवदत्ता को अपने आश्रम में शरण देती है । कथानक की दृष्टि से इस प्रकार संन्यासिनी की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है । जब पद्मावती सांकृत्यायनी के आश्रम में वासवदत्ता को ले जाती है तो यद्यपि सांकृत्यायनी वासवदत्ता को पहचानती है, किन्तु फिर भी वह यह बात प्रकट नहीं होने

1- माणवक: - शृण्विदं प्रथममेवामात्यप्रेषितया तथा प्रव्राजिकया आर्यसांकृत्यायन्या चित्रफलकारोपितराजप्रतिकृतिं दर्शयित्वा बहुप्रकारं च तस्य गुणान्प्रशस्य पद्मावती तथानुरागपरवशा गता -------।

- तापसवत्सराजचरितम् तृतीय अङ्क

देती है ।[1] तथा वासवदत्ता को उदयन के समक्ष पड़ने से भी बचाती है ।[2]
राजा उदयन जब अपनी पत्नी वासवदत्ता के वियोग से अत्यन्त विचलित हैं
तथा पद्मावती से विवाह नहीं करना चाहते, तब भी सांस्कृत्यायनी द्वारा
कथानक को एक नई गति मिलती है, क्योंकि राजा उदयन के प्रति पद्मावती
प्रेम-पीड़ित है और इस प्रेम में अपने को असफल समझ कर वह आत्महत्या की
चेष्टा करती है तब सांस्कृत्यायनी उसे समझाती है । वह उसे सदैव सौभाग्य-
शालिनी होने का आशीर्वाद भी देती है ।[3] प्रस्तुत विवरण के अनुसार हम
यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि तापसवत्सराज नाटक में संन्यासिनी-पात्र के
माध्यम से ही कथानक को फलागम तक ले जाने की चेष्टा की गई है ।
सांस्कृत्यायनी अत्यन्त गुणी, विदुषी, सौम्य तथा उदारहृदया हैं, क्योंकि
वह सभी का कल्याण चाहने वाली हैं तथा सभी का कल्याणकारी योजनाओं
में वह सहजता से भाग लेने की चेष्टा करती हैं । किन्तु इसके साथ ही साथ
यह एक चरित्रगत विडम्बना ही है कि संन्यासिनी सांस्कृत्यायनी उदयन और
पद्मावती की श्रृङ्गारिक चेष्टाओं में माध्यम बनती है तथा उसके व्यक्तिगत
प्रभाव से राजदरबार के चारों ओर बार-बार अनेक घटनाएँ घटित होती हैं,

---

1- तापसवत्सराज, 3/6 ।
2- तापसवत्सराज, तृतीय अङ्क 8वें श्लोक के पश्चात् सांस्कृत्यायिनी का कथन ।
3- सांस्कृत्यायनी-चिरमविधवा भवतु, कृतार्थेन भर्त्रा सह सङ्घटताम्, किमुच्यते,
त्वत्तोऽप्यधिकेयमस्माकम् । - तापसवत्सराज, तृतीय अङ्क ।

जो आचरण उसके संन्यासी चरित्र के विपरीत ही है । अस्तु, इस स्थल पर संन्यासिनी स्त्री-पात्र को नाटकीय रूप से न्यायोचित कहा जा सकता है, किन्तु वास्तविक जीवन में उसका निदर्शन नहीं किया जा सकता है ।

अस्तु, परवर्ती आचार्यों द्वारा वर्णित सहायक स्त्री-पात्रों के उपर्युक्त मूल्यांकन के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि भरतप्रणीत मध्यम और अधम श्रेणी के सहायक स्त्री-पात्रों की अपेक्षा परवर्ती आचार्यों ने कुछ कम संख्या में सहायक स्त्री-पात्रों की व्याख्या की है । परवर्ती आचार्यों के मत में प्रमुखतया सखी, संन्यासिनी और धाय की पुत्री इत्यादि हैं । वास्तव में सामाजिक मान्यताओं के बदलते क्रम में भरतकाल की अपेक्षा परवर्ती काल में जो नूतन समावेश होना चाहिए था, वह परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में अत्यन्त अल्पमात्रा में प्राप्त होता है । चूँकि भरत के परवर्ती अनेक नाट्यकारों ने इन उपर्युक्त सहायक स्त्री-पात्रों का सृजन अपने नाट्य में किया था, जिसका प्रभाव उनके परवर्ती उपर्युक्त शास्त्रीय आचार्यों पर भी पड़ा और उन्होंने इसे शास्त्र-सम्मत बनाने की चेष्टा की है ।

निष्कर्ष -

भरतप्रणीत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित प्रमुख सहायक स्त्री-पात्र अर्थात् नायिकाओं के अतिरिक्त नाट्यमें अन्य सहायक मध्यम तथा अधम श्रेणी के स्त्री-पात्रों की योजना एक सुनिश्चित दिशा-निर्देश देती है, क्योंकि

कथानक के किसी भी घटना-व्यापार को रंगमंच पर मात्र नायक-नायिका अथवा प्रथम श्रेणी के ही पात्रों के द्वारा पूर्णरूपेण प्रस्तुत करना सम्भव ही नहीं। कारण-किसी भी कथ्य को जो श्रृङ्गारिक, राजनीतिक या इतिहासपरक हो उसके प्रकटीकरण-हेतु विभिन्न प्रकार के सहायक मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्रों की भी आवश्यकता होती है। तात्पर्य यह है कि नाट्य के कथानक के संविधान को गत्यात्मक क्रिया-व्यापार की अवस्था तक पहुँचानें के लिए नायक अथवा नायिका के अन्तः संघर्ष को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने में इन सहायक स्त्री-पात्रों से सहायता मिलती है। प्रारम्भ से ही नाट्य के कथानक को प्रख्यात चरित्रों के आधार पर सर्जित किया जाता रहा है, अतएव भरत एवं परवर्ती आचार्यों ने उन प्रख्यात चरित्रों से सम्बन्धित सहायक स्त्री-पात्रों की सर्जना की। किन्तु कहीं-कहीं पर नाट्यकारों ने अपनी स्वतन्त्र सर्जना के बल पर सम-सामयिक परिस्थितियों के अनुसार कुछ ऐसे पात्रों का भी रंगमंच पर प्रवेश कराया है, जो कि शास्त्रीय ग्रन्थों में अनुपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ-कतिपय राजदरबार से सम्बन्धित कथानक वाले नाटकों में "यवनियाँ" नामक अधम श्रेणी के स्त्री-पात्र उपलब्ध होते हैं। कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् तथा विक्रमोर्वशीयम् नाटकों में भी यह यवनियाँ चित्रित हैं। सम्भवतः ये स्त्री-पात्र यूनान से लाई जाती थीं। राजा जब आखेट के लिए जाता था, उस समय राजा के प्रयोग किए जाने वाले तीर-कमान को लिए रहना ही इन यवनियों का प्रमुख कार्य था। इन पात्रों का कोई भी निर्दशन शास्त्रकारों ने नहीं किया है। इसी प्रकार

संस्कृत-नाटकों में एक अनूठा स्त्री-चरित्र हमें विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षसम् नाटक में सेठ चन्दनदास की पत्नी कुटुम्बिनी के रूप में मिलता है । यद्यपि यह सम्पूर्ण नाटक स्त्री-पात्रों से रहित है, किन्तु नाटक के अन्तिम सप्तम अङ्क में जब चन्दनदास को फाँसी दिए जाने के लिए ले जाया जा रहा है उस समय उसकी पत्नी कुटुम्बिनी का अपने पुत्र के साथ प्रवेश होता है तथा उसके विलाप से सभी का हृदय द्रवित हो उठता है तथा सम्पूर्ण नाटक की घटनाओं पर वह अन्तिम अङ्क में उपस्थित एकमात्र स्त्री-पात्र अपना अमिट प्रभाव डालती है । पातिव्रत्य धर्म उसमें इतने उत्कृष्ट रूप में है कि वह अपने पति के साथ ही मर जाना चाहती है, पति से पृथक् होकर उसे अपना जीवन अभीष्ट नहीं ।[1] फाँसी के निमित्त शूल गाड़ दिए जाने पर अपने पति की मृत्यु के भय से लगभग चीत्कार करती हुए वह करुण-क्रन्दन कर उठती है[2] तथा वहाँ उपस्थित भीड़ से चन्दनदास को छुड़ाने की गुहार करती है, जिससे सभी सुमनस् सामाजिकों का हृदय रसानुभूति के कारण द्रवित हो जाता है । इस प्रकार शास्त्रकारों द्वारा अनुल्लिखित यह स्त्री-पात्र विशाखदत्त की नूतन कल्पना का ही परिणाम है, जो संस्कृत नाटकों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है ।

1- कुटुम्बिनी-आर्य, यद्येवं तदिदानीमकालः कुलजनस्य निवर्तितुम् ।

——— । भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवतीति ।

-मुद्राराक्षसम्, सप्तम अङ्क ।

2- कुटुम्बिनी- आर्याः, परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।

-मुद्राराक्षसम्, सप्तम अङ्क ।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत-नाट्य-साहित्य में सहायक स्त्री-पात्रों की भूमिका कथानक को फलागम तक ले जाने की उद्देश्यपूर्ति हेतु आवश्यक होती है । नाट्यकारों द्वारा कथानकों के नूतन चयन में समसामयिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप बदलती स्थितियों की आवश्यकतापूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के मध्यम तथा अधम श्रेणी के सहायक स्त्री-पात्रों का समावेश नाट्यकार स्वतन्त्र रूप से अपने नाट्य-काव्यों में कर सकते हैं, क्योंकि इस सन्दर्भ में शास्त्र मौन है । शास्त्रीय परम्परा में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं मिलता कि नाट्यकार केवल भरत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत मध्यम एवं अधम श्रेणी के स्त्री-पात्रों को ही अपने नाट्य में रख सकते हैं तथा अन्य श्रेणी या प्रकार के पात्र नाट्य में वर्जित हैं । ऐसी बात नहीं है । भरतप्रणीत सहायक स्त्री-पात्र मात्र अन्तःपुर में प्रयुक्त होने वाले ही स्त्री-पात्र हैं । इसके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों में अथवा राजदरबार के कथानकों के विपरीत कथानकों में सहायक स्त्री-पात्रों की योजना में परिवर्तन तो अवश्यम्भावी है । यद्यपि परवर्ती आचार्यों द्वारा भरत के मत में अत्यन्त अल्प संशोधन किया गया है, किन्तु नाट्य के कथानक की विभिन्न घटना-क्रियाओं तथा पात्रों के चयन के मध्य कोई सीमा-रेखा निर्धारित करना सम्भव नहीं है । सम्भवतया इसी कारणवश नाट्यकारों द्वारा कुछ अन्य श्रेणी के पात्रों का भी पुष्पन-पल्लवन किया गया है ।

ऐसे पात्रों के उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि राक्षसी, योगिनी, कपालकुण्डला, भीलकन्याएँ, शूद्रकन्याएँ, भिक्षुकी, गन्धर्व स्त्री आदि इसी श्रेणी में आते हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि नाट्यकार नाट्य की संरचना के समय शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रति प्रतिबद्ध होता है, किन्तु कुछ मौलिक सर्जनाओं में उसकी प्रतिबद्धता सम्भव ही नहीं है। अन्यथा संस्कृत-नाट्य-साहित्य में नूतनता कैसे सम्भव हो सकती थी ? इसी कारणवश नाट्यकारों द्वारा समय-समय पर अपने कथानकों में विभिन्न सहायक स्त्री-पात्रों का चयन किया गया है, जिन्हें किसी विशिष्ट श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि नाट्य के संविधान के अनुसार सहायक स्त्री-पात्रों की भूमिका एक तरफ अपरिहार्य है तो दूसरी ओर नाट्यकार अपनी सम-सामयिक स्थितियों के अनुरूप सामाजिक एवं नैतिक दायित्वों का निर्वाह करते हुए शास्त्र में असम्मत नए पात्रों का नाट्य में स्वतन्त्र रूप से समावेश कराने में स्वतन्त्र भी हैं।

" अध्याय - 5 "

नायिकाओं के अलङ्कार - एक शास्त्रीय विवेचन

भूमिका -

प्राचीन संस्कृत-मनीषियों ने नायिकाओं के शोभावर्धनार्थ "अलङ्कार" की व्याख्या की है, किन्तु यह ध्यातव्य है कि यह अलङ्कार मात्र सौन्दर्य बढ़ाने वाले आभूषणों या वस्त्रादि का संगम ही नहीं, अपितु सौन्दर्यवर्धनार्थ एक अनूठा एवं स्वाभाविक उपादान कारण भी है । अलङ्कार ऐसा विशिष्ट कारण है, जिसके माध्यम से नारियों के विभिन्न हृदयस्थ भावों तथा भावभंगिमाओं का सहृदय सामाजिकों के समक्ष सम्प्रेषण होता है, जिसके फलस्वरूप सौन्दर्यानन्द उत्पन्न होता है । यद्यपि सौन्दर्य मन में ही अवस्थित रहता है तथापि जब किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में इसका सामंजस्य नूतन भावभंगिमाओं से होता है, तो यह आनन्द अनिर्वचनीय बन जाता है । यह अनिर्वचनीय आनन्द वस्तुतः रसोत्पादक होता है । इस प्रकार अलङ्कार प्रत्यक्षतः रसाश्रय से जुड़ा हुआ है ।

हम जानते हैं कि मानव-प्रकृति त्रिगुणात्मक है - सात्त्विकी, राजसी और तामसी । आचार्य भरत ने अभिनय को सात्त्विकता से प्रत्यक्षतः जोड़ा है । इसका यह तात्पर्य है कि समस्त अभिनयों में सात्त्विक अभिनय का महत्त्व उच्च कोटि का है तथा सत्त्व या अन्तर्मन में होने वाले परिवर्तन वाणी एवं विविध आङ्गिक चेष्टाओं द्वारा प्रस्फुटित होते हैं, किन्तु सात्त्विक भाव का प्रदर्शन देहात्मक होता है । प्रथमतः सात्त्विक भाव जब सत्त्व की स्थिति में होते हैं तो उनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, किन्तु विकार उत्पन्न होने पर भाव वस्तुतः सम्प्रेषण की प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि भरत द्वारा मानव की त्रिगुणात्मक प्रकृति को दृष्टिगत

रखते हुए सात्त्विक भावों को प्राथमिकता देना यह सिद्ध करता है कि वह नाट्य के आदर्शात्मक मूल्यों की स्थापना में विश्वास रखते थे। अलङ्कार वास्तव में इन्हीं सात्त्विक भावों तथा रस पर आधारित विषयवस्तु है[1]। फलतः हम यह कह सकते हैं कि भरत की अलङ्कार व्याख्या एक गूढ़ दार्शनिक विषय है, क्योंकि उन्होंने भावों के सम्प्रेषण की प्रक्रिया को मानव की त्रिगुणात्मक प्रकृति से जोड़ने की चेष्टा की है। ये अलङ्कार मात्र नारी की शोभा को बढ़ाने के लिए ही नहीं होते, अपितु इससे कहीं अधिक उच्च स्थिति रखते हैं। सामान्यतया भाव-सम्प्रेषणीयता का विषयवस्तु के साथ सामंजस्य इतना सहज कार्य नहीं है, किन्तु कुछप्राकृतिक रूप से मानवीय गुणों के फलस्वरूप उत्पन्न स्थितियों में सहज प्रक्रिया से भाव- सम्प्रेषण होता है। ये भाव-सम्प्रेषणीयता अलङ्कारों के माध्यम से ही होती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि अलङ्कार वस्तुतः प्राकृतिक हाव-भाव ही होते हैं। आचार्य भरत स्वयं कहते हैं कि "अलङ्कार मात्र शरीर की शोभावर्धनार्थ नहीं, वह प्राणों का मधुर गुञ्जन है, जो नारी के शील का परिष्कृत, परिनिष्ठित स्वरूप भी है।" फलतः अलङ्कार नारी की आन्तरिक और बाह्य सुन्दरता, सुकुमारता, पवित्रता, सलज्जता तथा स्नेहशीलता को उद्घाटित करते हैं।

1- अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञेया भावरसाश्रयाः ।
यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकाराः वक्त्रगात्रजाः ।

- नाट्यशास्त्र - 24/4

भरत का मत

सिद्धान्त-पक्ष -

आचार्य भरत ने नारी-पात्रों के अलङ्कारों की तात्त्विक व्याख्या प्रस्तुत की है । पुरुष-पात्रों की भाँति स्त्री-पात्रों के भी अलङ्कारों की विवेचना नाट्य-शास्त्र में उदात्त रूप में हुई है । ज्ञातव्य है कि मानव-मन में स्थित सात्त्विक भाव देहात्मक होते हैं । इसी के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति भी होती है । दर्शनीय अंगों में सुकुमारता, लालित्य तथा मन-प्राण में कोमलता और मधुरता से युक्त स्त्री-पात्र ही उत्तम स्वरूप वाले होते हैं । इन्हीं गुणों का भाव रूपी प्रकटीकरण अलङ्कार के रूप में वर्णित है । वास्तव में देहात्मक सात्त्विक भावनाएँ देह-धर्म से जुड़ी होने के कारण आङ्गिक विकार के रूप में प्रकट होती हैं तथा सात्त्विक दृष्टि से उसे अलङ्कार की संज्ञा दी गई है । इन अलङ्कारों का दर्शन उत्तम स्त्री-पुरुषों में होता है । शास्त्रीय दृष्टि से इस बात को प्रमुखता दी गई है कि स्त्रियों में श्रृङ्गार-रस तथा पुरुषों में वीर रस के फलस्वरूप उत्पन्न उत्तमता सहज ही परिलक्षित होती है । इसके साथ ही साथ सात्त्विक अलङ्कार उत्तम स्त्री-पुरुषों के अतिरिक्त और कहीं भी दृष्टिगत हो सकते हैं, क्योंकि सात्त्विक भाव राजसी और तामसी भावों में भी तिरोहित होते हैं । यह अङ्गिक विकार वस्तुत: तीन प्रकार का होता है- अङ्गज, स्वभावज तथा अयत्नज[1] । स्त्री की प्रकृतिगत अवस्था के आधार पर आचार्य भरत ने लगभग 20 अलङ्कारों की कल्पना की है, जो स्त्रियों के बाह्य तथा

1- आदौ त्रयोऽङ्गजास्तेषां दश स्वाभाविका: परे ।

अयत्नजा: पुन: सप्त रसभावोपबृंहिता: ।। नाट्यशास्त्र 24/5

आभ्यन्तर गुणों का प्रकटीकरण करते हैं । फलत: हम यह कह सकते हैं कि आचार्य भरत ने अलङ्कारों को प्राकृतिक हाव-भाव से जोड़ा है, जिसकी सम्प्रेषणीयता सामाजिकों को सहज रूप से ही नाट्यानन्द या सौन्दर्यानन्द प्रदान करती है, क्योंकि नाट्य में मानव-मन में उत्पन्न होने वाले आन्तरिक मनोभावों तथा वृत्तियों के संघर्ष का यथार्थ तथा मनोरम चित्रण किया जाता है, जो वस्तुत: नाट्य का चरम लक्ष्य है ।

अब हम अंगज, स्वभावज तथा अयत्नज अलंकारों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे -

हम जानते हैं कि अलङ्कार वास्तव में प्राकृतिक हाव-भाव ही होते हैं । ये नर और नारी दोनों में ही समान रूप से हो सकते हैं । जो अलंकार स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं, वे अंगज और अयत्नज अलङ्कार कहलाते हैं । इसके विपरीत स्वभावज अलङ्कार केवल स्त्रियों में विकसित होता है । अलङ्कारों का प्रकटीकरण विशेष रूप से यौवनकाल में होता है । बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में ये अलङ्कार इतनी प्रमुखता से नहीं प्रकट होते । यौवनकाल में स्त्रियों के अलङ्कारों की संख्या अनन्त हो सकती है, किन्तु आचार्य भरत ने इन्हें सीमित रूप में ही व्याख्यात करने की चेष्टा की है । जो अलङ्कार केवल शरीर मात्र से उत्पन्न होते हैं, वे अंगज अलङ्कार कहे जाते हैं । इसके विपरीत प्रिय के द्वारा उपभोग किए जाने पर उत्पन्न होने वाला अलङ्कार स्व-भावज अलङ्कार कहलाता है । तात्पर्य यह है कि अंगज तथा स्वभावज अलङ्कार क्रिया रूप में स्त्रियों की चेष्टा से जुड़े होते हैं । अयत्नज अलङ्कार देह-धर्म

के रूप में प्रकट होते हैं । अर्थात् इसमें यत्न करना पड़ता है । यत्न से देह-चेष्टा उत्पन्न होती है, जो अयत्नज अलङ्कार होता है । इसे सात भागों में विभक्त किया गया है । सर्वप्रथम हम अंगज अलङ्कार की व्याख्या करेंगे -

1- अंगज अलङ्कार -

स्त्रियों के आंगिक विकार यौवनवयस् में अत्यधिक बढ़ जाते हैं । इनकी संख्या तीन होती है-भाव, हाव और हेला । भरत इन विकारों को सत्त्व से उत्पन्न मानते हैं । वे कहते हैं कि "सत्त्व" से "भाव"का "भाव" से"हाव" का और "हाव" से "हेला" का उद्भव होता है ।[1] यद्यपि ये तीनों सत्त्व से ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु ये विभिन्न प्रकार से शरीर की प्राकृतिक स्थिति से भी सम्बद्ध रहते हैं ।[2] यहाँ पर द्रष्टव्य है कि आचार्य भरत ने सत्त्व से भाव, हाव तथा हेला का जो क्रमागत विकास प्रदर्शित किया है, वह मानव-मन की प्राकृतिक अनुभूति की स्पष्ट व्याख्या करता है । भरत का यह मत सूक्ष्म वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक चिन्तन से सम्बन्धित प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने मानव के मन में उत्पन्न होने वाली वृत्तियों की व्याख्या अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से करके उसे विज्ञान के निकट ला खड़ा किया है । हम जानते हैं कि चित्तवृत्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों के फलस्वरूप हाव-भाव पर एक विलक्षण प्रभाव पड़ता है, जो व्यक्ति की आंगिक चेष्टाओं को अपने अनुरूप सहज ही परिवर्तित कर लेता है ।

1- देहात्मकं भवेत्सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः ।
भावात् समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता। -नाट्यशास्त्र 24/6

2- हेला हावश्च भावश्च परस्परसमुत्थिताः।
सत्त्वभेदे भवन्त्येते शरीरे प्रकृतिस्थिताः ।। -नाट्यशास्त्र 24/7

भाव -

जन्म से निर्विकारी चित्त में सर्वप्रथम विकार उत्पन्न होने को भरत ने "भाव" बताया है । इस प्रकार भाव मन की एक आन्तरिक वृत्ति है । इसकी अभिव्यक्ति कुछ देर से होती है, किन्तु प्रथमतः सत्त्व से भाव का स्फुरण होता है । ऋषि भरत ने भाव की व्याख्या करते हुए बताया है कि भाव का अतिशय अनुभव (या सत्त्व) जो किसी सम्मुख स्त्री या पुरुष में अनेक अवस्थाओं में स्थिति हो तो उसे भाव जानना चाहिए[1]। किन्तु इसके पूर्व वह स्वयं वाणी, अंग, मुखराज तथा सत्त्व के अभिनय द्वारा इष्ट भावों का भावन नाट्यरचनाकारों द्वारा कराने को भी भाव कहते हैं[2]। इन्हीं दो परिभाषाओं के आधार पर भरत ने भाव को अभिव्यक्त किया है, किन्तु पुरुष के समक्ष स्त्री तथा स्त्री के समक्ष पुरुष की चित्तवृत्ति में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले विकार कुछ बन्धनों से भी युक्त होते हैं । कारण यह है कि प्रत्येक मानव के मन की अथवा चित्तवृत्ति की स्थिति भिन्न-भिन्न है । उसमें उत्पन्न होने वाले भाव उसकी वयः सन्धि, सामाजिक अवस्था, बाह्य परिवेश, नैतिक दायित्व और संस्कारगत मानसिकता के फलस्वरूप ही उत्पन्न होंगे । इस विषय में आचार्य भरत द्वारा कोई भी विशेष बल नहीं दिया गया है । सम्भवतया उन्होंने परवर्ती नाट्यकारों पर यह भार छोड़ दिया

1- भावस्यातिकृतं सत्त्वं व्यतिरिक्तं स्वयोनिषु ।
नैकावस्थान्तरकृतं भावं तमिह निर्दिशेत् ।। - नाट्यशास्त्र-24/9

2- वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च ।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।। - नाट्यशास्त्र-24/8

था कि वे भावों की उत्पत्ति की स्थिति को प्रदर्शित करने में सामाजिक और नैतिक दायित्व का निर्वाह करें। यहाँ पर हम यह उल्लिखित कर सकते हैं कि प्रबल भावों का प्रकटीकरण महाकवि कालिदास के नाट्यों में विशिष्ट रूप से हुआ है, किन्तु परवर्ती नाट्यकारों ने कुछ नैतिक परम्पराओं का भी निर्वाह किया है। कालिदास के समकालीन भास और शूद्रक इत्यादि के नाटकों में भावों की इतनी अधिक व्याख्या मुखरित नहीं हुई है। फलतः हम यह कह सकते हैं कि ऋषि भरत द्वारा की गई भाव की व्याख्या मनोवैज्ञानिक एवं नायिका के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ी हुई प्रतीत होती है। शृङ्गार-रस के अवलम्बन अथवा अन्य किसी रस के अवलम्बन में भावों को परिसीमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि भावों की संख्या अनन्त है। सम्भवतया इसी कारणवश ऋषि भरत ने नाट्य-रचनाकारों से यह अपेक्षा की कि वे अपने नाट्य में वातावरण के अभियोजन एवं सामाजिक तथा वैयक्तिक स्थितियों का आकलन करते हुए भावों का निदर्शन करें क्योंकि संस्कृत-नाट्य नितान्त आदर्शवादी हैं तथा इन्हीं आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना हेतु ही भरत ने नाट्य की आधारशिला रखी थी। अतः भावों की उन्मुक्त व्याख्या समसामयिक परिस्थितियों के अनुरूप ही करनी चाहिए। इसके साथ ही साथ भरत-द्वारा नाट्य-रचनाकारों पर यह दायित्व डालना इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि नाट्य-रचनाकार अपने नाट्यों में देशकाल से भिन्न भावों का प्रकटीकरण न करें। अस्तु, इसी कारण वश भरत ने भावों की संख्या को सीमित करने की चेष्टा की है।

हाव -

भाव की तीव्रता का आकलन कोई सहज प्रक्रिया नहीं है । जब नायक तथा नायिका के प्रथम मिलन की अवस्था में भावों का अवगुण्ठन खुलता है, तो उनकी चित्तवृत्ति में एक तीव्र परिवर्तन होता है । यदि यह भाव श्रृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति कर रहा हो तो मानव की चित्तवृत्तियों का प्रभाव आँखों, भौंहों तथा चाल-ढाल में एक विलक्षण प्रभाव अंकित करता है[1] । तात्पर्य यह है कि प्रथम रति-विकार के फलस्वरूप शरीर के आङ्गिक अंगों में विलक्षण विकार उत्पन्न हो जाता है । इस विलक्षण प्रकृति की अभिव्यक्ति को ही हाव कहते हैं । यहाँ पर द्रष्टव्य है कि भरत ने हाव की अभिव्यक्ति की व्याख्या मात्र श्रृङ्गार रस की दृष्टि से ही की है । तात्पर्य यह है कि भाव से जब हाव उत्पन्न होता है तो ऐसी अवस्था में नायक-नायिका या अन्य कोई पात्र ऐसे भावों को मात्र शाब्दिक अभिव्यक्ति द्वारा ही व्यक्त नहीं कर पाते । वस्तुत: देह-विकार ही उस भाव को रूप या आकार प्रदान करते हैं । ध्यातव्य है कि जब श्रृङ्गार-रस के प्रसंग में किसी नायिका का नायक से प्रथम साहचर्य होता है तो नायिका में जो भाव रूपी विकार उत्पन्न होता है, वह उसके नेत्रों से ही प्रकट हो जाता है । इसे ही "हाव" की संज्ञा दी गई है ।

हेला -

"हेला" हाव से उत्पन्न होता है जो "हिल्" धातु से बना है । "हिल्" शब्द का तात्पर्य है-भावविष्करण । आचार्य भरत ने तीव्रता से प्रसार के अर्थ में

1- तत्राक्षिभ्रूविकाराद्यः श्रृङ्गाराकारसूचकः ।
सग्रीवारेचको ज्ञेयो हावः स्थितसमुत्थितः । - नाट्यशास्त्र-24/10

ही इसका प्रयोग किया है । हेला की स्थिति में नारी की चित्तवृत्ति में श्रृङ्गार-भाव का अतिशय या विपुल आवेग उत्पन्न होता है तथा इस समय भाव का प्रसार भी अत्यन्त तीव्रता से होने के कारण हृदय में भावों का प्रसार अत्यन्त वेग से होता है तथा उसीकेअनुरूप नायिका में आङ्गिक विकार उत्पन्न होता है । भरत ने/स्वयं इसे तीव्रता के साथ नायिका की ललित शृङ्गारिक चेष्टाओं के द्वारा तथा श्रृङ्गार-रस पर आश्रित होकर अभिव्यक्ति होने वाला कहा है[1]। फलतः हम कह सकते हैं कि श्रृङ्गार-रस के अत्यन्त स्पष्ट रूप से लक्षित होने पर हेला भाव उत्पन्न होता है । वास्तव में भाव ही वर्धित होकर हेला का रूप धारण कर लेता है ।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के पश्चात् निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भाव, हाव और हेला नायिका के अव्यक्तित्व के शोभाकारक धर्म हैं । सर्वप्रथम सत्त्व से जब भाव व्युत्पन्न होता है तो नायिका की चित्तवृत्ति में विकार उत्पन्न होता है । इस विकार के फलस्वरूप नायिका के अंगों पर एक विलक्षण प्रभाव पड़ता है । इस विलक्षण प्रभाव को ऋषि भरत ने श्रृङ्गार-रस के आधार पर ही आकलित किया है ।· "भाव" जब श्रृङ्गार-रस की विषय-वस्तु बन जाता है तो "हाव" उत्पन्न होता है तथा भाव की तीव्रता "हेला" भाव उत्पन्न करती है । हेला भाव नायिका का नायक से समागम की स्थिति को अत्यन्त स्पष्ट रूप से परिलक्षित करता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भरत ने भावों के प्रकटीकरण की सहज प्रक्रिया को शास्त्रीय रूप प्रदान किया है ।

1- यो वै हावः स एवैषा श्रृङ्गाररससम्भवा ।
समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ।। -नाट्यशास्त्र 24/।।

ये हाव, भाव और हेला नामक सभी भाव सत्त्व का ही प्रकटीकरण हैं । सत्त्व अदृश्य रूप वाला होता है किन्तु रसाश्रित होकर यह सत्त्व रोमाञ्च, अश्रु आदि के द्वारा भावाश्रित होकर अभिव्यक्त होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभरत ने सात्त्विकता को प्रमुखता प्रदान करके एक आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है । भरत का प्रस्तुत चिन्तन मानव-मन की चित्तवृत्तियों का भी आकलन करता है, क्योंकि साधारणतया विकार-रहित मानव-मन जब विकार-युक्त स्थिति पर पहुँचता है तो उसमें नूतन परिवर्तन होते हैं । भाव से जब हाव की ओर संक्रमण होता है तो वास्तव में मात्र वाचिक-विधा द्वारा इसकी अभि-व्यक्ति नहीं की जा सकती । ऐसी स्थिति में हाव नायिका की मुखाकृति तथा आंगिक चेष्टाओं द्वारा स्पष्ट होती है तथा इससे भावों का संक्रमण तीव्रता की स्थिति में होता है । यह भाव, हाव और हेला क्रमशः अपनी तीव्रता को प्रकट करते हैं । इस प्रकार हम देखते है कि भरत का प्रस्तुत मत मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी उद्घाटित करता है, क्योंकि उन्होंने वास्तव में मानव की चित्तवृत्ति के वास्तविक विकास की स्थिति की व्याख्यात करने की चेष्टा की है । भरत का यह मत वाचिक और आङ्गिक अभिनय के सामंजस्य का भी बोध कराता है ।

§2§ स्वभावज अलङ्कार -

ऋषि भरत ने नारियों के स्वभावतः उत्पन्न होने वाले आन्तरिक भावों यथा-प्रेम, मिलन, ईर्ष्या, घृणा इत्यादि को स्वभावज अलङ्कार के रूप में

व्याख्यात किया है । इन अलङ्कारों के माध्यम से स्त्रियों के मनोभावों का निदर्शन इष्ट होता है । वस्तुत: सत्त्व ही तीनों रूपों में प्रस्फुटित होकर भाव-लोक से उठकर रति का उद्बोधन कराता है । रति-प्रबोध के फलस्वरूप उठने वाले भाव नारी के लिए परम आनन्द का विषय होते हैं । स्वभावज अलंकार के अन्तर्गत नायिकाओं का नायक से संयोगावस्था में विभिन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप जो आन्तरिक भावों का प्रकटीकरण होता है; वो स्वभावत: भी स्पष्ट है, किन्तु साध्य का साधन मात्र होते हुए नारी-सुलभ व्यवहार से जुड़ जाते हैं । इस प्रकार स्वभावज अलङ्कार नारी के सहज स्वभाव को प्रदर्शित करते हैं । आचार्य भरत ने दस प्रकार के स्वभावज अलङ्कारों की व्याख्या की है - लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत[1] ।

लीला -

नायिका जब अपने प्रिय के अनुराग में लिप्त होती है, तो वह श्लिष्ट वचनों, चेष्टाओं तथा वाणी द्वारा अपने प्रिय का अनुकरण करती है । इसके फलस्वरूप ही "लीला" नामक भाव उत्पन्न होता है ।

1- लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितस्तथा ।।
विहृतञ्चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः ।
अलङ्कारास्तथैतेषां लक्षणं श्रृणुत द्विजाः ।।

-नाट्यशास्त्र 24/12,13 तथा द्रष्टव्य 24/14-23

विलास -

अपने प्रियतम की उपस्थिति मे नायिका के बैठने एवं चलने की क्रियाओं हाथ, नेत्र तथा भौंहों की चेष्टाओं में एक विलक्षण परिवर्तन होता है, उसे "विलास" कहा गया है ।

विच्छित्ति -

माला, वस्त्र तथा अलङ्कारों का असावधानी से प्रयोग "विच्छित्ति" अलङ्कार कहलाता है ।

विभ्रम -

प्रेम अथवा हर्ष की अतिशय अवस्था के कारणवश नायिका में मद, राग एवं हर्ष के कारण विपरीत आचरण प्रकट होता है, जिसके फलस्वरूप वह अधिक उतावली होकर विविध शब्दों, चेष्टाओं, वेश-भूषा आदि को अपने उचित स्थान पर नहीं रख पाती है, तो ऐसी अवस्था में "विभ्रम अलङ्कार" होता है ।

किलकिञ्चित -

नायिका और नायक की मिलनावस्था में अनेक भावों का सम्मिश्रण हो जाता है, तो उसे " किलकिञ्चित अलङ्कार" कहते हैं । आनन्द की अतिशयिता से भय, हर्ष; गर्व, दुःख, श्रम तथा अभिलाषा आदि अनेक भावों के सम्मिश्रण होने के कारणवश इसे हम "भावविह्वलता" की भी संज्ञा दे सकते हैं ।

<u>मोट्टायित</u> -

अपने प्रियतम के विषय में कही जा रही बात को विभिन्न आङ्गिक विकारों के साथ अत्यन्त ध्यानपूर्वक सुनने पर "मोट्टायित" नामक अलङ्कार उत्पन्न होता है। इसमें नायिका एक प्रकार से नायक की भावनाओं में लीन हो जाती है तथा उसे अपनी स्थिति का ज्ञान ही नहीं रहता है।

<u>कुट्टमित</u> -

प्रियतम द्वारा नायिका के अङ्ग-स्पर्श के फलस्वरूप जो सुख तथा आनन्द का अतिरेक भाव उत्पन्न होता है उसे "कुट्टमित" की संज्ञा दी गयी है।

<u>बिब्बोक</u> -

नायिका के अन्तःकरण में ~~में~~ नायक के प्रति प्रेम-भाव होते हुए भी उस प्रियतम की प्राप्ति होने पर भी वह मिथ्याभिमान या गर्व के कारण उसके प्रति अनास्था या तिरस्कार-भाव की अभिव्यक्ति करती है तो उसे "बिब्बोक" कहते हैं।

<u>ललित</u> -

नायिका के कोमल तथा स्निग्ध अंगों के विन्यास के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाला भाव "ललित" कहलाता है, क्योंकि नारी द्वारा अपने अङ्ग-उपाङ्गों का संचालन तथा भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन श्रृङ्गार - रस

का उत्पादक होता है। इसमें अतिशय विलास होने के कारण यह ललित कहलाता है।

विहृत -

जहाँ पर नायिका अपने प्रिय के वचनों को सुनकर भी तथा अवसर उत्पन्न होने पर भी लज्जा या स्वभावका बोल न पाए, वहाँ "विहृत" नामक भाव उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नारी-सुलभ व्यवहार के फलस्वरूप कुछ अलङ्कारों का उदय उसकी स्वभावगत विशिष्टता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि नायक और नायिका की संयोगावस्था में नायिका के आचरणानुसार कुछ ऐसे क्रिया-कलाप प्रदर्शित किए जाते हैं, जो कि स्वभावतः उत्पन्न होने के साथ-साथ उस नायिका के हृदय तथा अन्तरतम में कुछ विशिष्ट प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है, जिन्हें स्वभावज अलङ्कार की संज्ञा दी गई है। स्वभावज अलङ्कार के अन्तर्गत आङ्गिक क्रियाकलापों पर विलक्षणप्रभाव पड़ता है और नाट्य में इसका प्रदर्शन क्रियात्मक रूप मे होता है। अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि स्वभावज अलङ्कार के अन्तर्गत नायिका का क्रियात्मक स्वरूप उसकी मानसिक विकारावस्था के फलस्वरूप उत्पन्न हुई एक ऐसी लाक्षणिक प्रवृत्ति है, जो स्वभावतः जो प्रदर्शित होती ही है, साथ ही ऐसा प्रतीत होता है कि वह क्रिया उसके स्वभाव का एक अभिन्न तथा विशिष्ट अङ्ग है।

---

(3) अयत्नज अलङ्कार -

अयत्नज अलङ्कार नायिका में बिना यत्न के उत्पन्न होते हैं। नायिका के रति-विकार अथवा नायक से मिलन की स्थिति में ये अलङ्कार बिना यत्न के उत्पन्न होते हैं। सम्भवतः इसी कारणवश भरत ने इन्हें अयत्नज अलङ्कार की संज्ञा दी है। नारियों के अयत्नज अलङ्कार निम्नवत् हैं -

शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य[1]।

शोभा -

शोभा की व्याख्या करते हुए ऋषि भरत कहते हैं - रूप, यौवन तथा लावण्य आदि के उपभोग से विकसित अङ्गों को सजाना। तात्पर्य यह है कि रूप, यौवन तथा लावण्य के कारण और तरुणाई से नायिका का जो आङ्गिक सौन्दर्य उद्भासित हो उठता है, उसे "शोभा" कहा गया है।

कान्ति -

शोभा के घनीभूत होने के फलस्वरूप "कान्ति" उत्पन्न होती है। तात्पर्य यह है कि शोभा में जो काम भावना की व्यापकता से उन्मेष होता है, उसे कान्ति कहना चाहिए।

1- शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च तथा माधुर्यमेव च।
धैर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यमित्येते स्युरयत्नजाः ।।

-नाट्य शास्त्र 24/24 तथा द्रष्टव्य 24/25-30.

दीप्ति -

कान्ति का जब अतिशय विस्तार हो जाता है, तब "दीप्ति" नामक अलङ्कार-भाव होता है ।

माधुर्य -

शारीरिक क्रियाएँ यथा- दीप्ति या ललित भाव ही "माधुर्य" नामक भाव उत्पन्न करता है । यहाँ पर नायिका के माधुर्य-गुण को इस प्रकार भी विश्लेषित किया जा सकता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी या क्रुद्ध होने पर भी नायिका में रमणीयता का भाव कम नहीं होता है । शोभा,कान्ति, दीप्ति इत्यादि से जो नायिका में आकर्षण उत्पन्न होता है, उसमें प्रतिरोध होने पर भी अपकर्ष न आने देना माधुर्य का ही कार्य है ।

धैर्य -

जब नायिका द्वारा आत्मश्लाघा से विमुख होने पर उसके मन की वृत्ति स्थिर रहती है, तो ऐसी स्वाभाविक मनःस्थिति को "धैर्य" कहा गया है अर्थात् शब्दान्तर से मन में चंचल वृत्ति को न उत्पन्न होने देना नायिका का धैर्य गुण कहलाता है ।

प्रागल्भ्य -

प्रिय से सम्भाषण या अन्य श्रृङ्गारिक कार्यों को निर्भय होकर करना"प्रागल्भ्य" है । तात्पर्य यह है कि मन में लज्जा के कारण जो अङ्ग-

संकोच या रति के प्रति विरक्ति का भाव साधारणतया होता है, उसका अभाव होना ही प्रागल्भ्य है । प्रिय-समागम के समय नायिका की निर्भयता को भी प्रागल्भ्य के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है ।

औदार्य -

जब नायिका सम या विषम दोनों ही परिस्थितियों में विनययुक्त व्यवहार करती है, तो वह "औदार्य" कहलाता है ।

भरत द्वारा अयत्नज अलङ्कारों की व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वभावज अलङ्कारों की अपेक्षा अयत्नज अलङ्कार नायिका की मुखाकृति एवं उसकी मानसिक अवस्थाओं का निदर्शन करते हैं । शोभा, कान्ति और दीप्ति क्रमशः अनुरागातिशय के कारण उत्पन्न क्रमगत सघनता को लक्षित करते हैं । माधुर्य और औदार्य विकार होने पर भी सौम्यता का प्रदर्शन करते हैं तथा साथ ही साथ नैतिक मार्ग से पतित न होने के फलस्वरूप जो भाव उत्पन्न होता है, उसे ये अलङ्कार नायिका द्वारा बिना यत्न के प्रदर्शित किए जाते हैं । धैर्य ऐसा अयत्नज अलङ्कार है जो नायिका को मानसिक विकार की स्थिति में भी संयमित रखता है । भरत द्वारा प्रणीत स्वभावज तथा अयत्नज अलङ्कार के मध्य प्रमुखतः यह अन्तर निर्दिष्ट किया जा सकता है कि स्वभावज-अलङ्कार नायिका के आङ्गिक क्रिया-व्यापार को स्पष्ट करता है, जब कि अयत्नज अलङ्कार सामान्यतया नायिका की मुखाकृति और मानसिक व्यापार

से सम्बन्धित है । फिर भी इन दोनों अलङ्कारों में यद्यपि कुछ विषमताएँ हैं तथापि दोनों अलङ्कार रति के समय तथा नायक से संयोग की अवस्था के फलस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं ।

परवर्ती आचार्यों का मत -

आचार्य धनञ्जय, रामचन्द्रगुणचन्द्र, सागरनन्दी आदि नाट्यशास्त्री भरत के ही मत को विश्लेषित एवं पुनर्व्याख्यात करते हुए प्रतीत होते है हैं । धनञ्जय ने भरत के ही समान बीस अलङ्कारों की व्याख्या की है । धनञ्जय की यह व्याख्या भरत-सम्मत मत से पूर्णतया सामंजस्य रखती है । रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी इन्हीं बीस अलङ्कारों की व्याख्या की है तथा स्त्रियों के यौवन-काल में होने वाले क्रियारूप धर्मों को अलङ्कार की संज्ञा दी है । सागरनन्दी भी प्रकारान्तर से भरत के ही मत का अनुमोदन करते हैं । उन्होंने भरत-सम्मत नायिकाओं के अयत्नज अलङ्कारों को शब्दान्तर से "नायिकाओं के स्वाभाविक धर्म" की संज्ञा दी है तथा स्वभावज अलङ्कारों तथा अंगज अलङ्कारों को संयुक्त रूप से चेष्टालङ्कारों की संज्ञा दी है इस प्रकार उपर्युक्त तीनों ही आचार्य निर्विवाद रूप से तीन आङ्गिक दस स्वभावज तथा सात बिना प्रयत्न के उत्पन्न होने वाले अयत्नज अलङ्कारों की सत्ता स्वीकार करते हैं ।[1] किन्तु आचार्य विश्वनाथ ने स्वभावज अलङ्कारों के दस भेदों के अतिरिक्त आठ प्रकार के नूतन अलङ्कारों का उल्लेख साहित्यदर्पण में किया है । जो इस प्रकार हैं - मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ।[2]

1- द्रष्टव्य-दशरूपक 2/30-41, नाट्यदर्पण 4/180-190, नाटकलक्षणरत्नकोश श्लोक - 315 तथा 345-347.

2- साहित्यदर्पण 3/105-110.

आचार्य विश्वनाथ ने इनकी व्याख्या निम्नवत् की है -

सौभाग्य और यौवन के दर्प से जब नायिका में विकार उत्पन्न होता है, तो उसे "मद" कहा गया है। प्रियतम के वियोग में जब नायिका में कामोद्वेग होता है, तो उससे उत्पन्न चेष्टाएँ "तपन" नामक भाव उत्पन्न करती हैं। जब नायिका अपने प्रियतम से ज्ञात बातों के विषय में भी अज्ञान प्रकट करती है, तो वहाँ पर "मौग्ध्य" भाव अलङ्कार के रूप में प्रस्फुटित होता है। जब नायिका अपने प्रियतम के समीप अल्प आभूषणों को धारण करके जाती है तथा अकारण इधर उधर देखती है अथवा अपने प्रिय से कुछ धीरे-धीरे रहस्यपूर्ण ढंग से बात करती है, तो "विक्षेप" नामक अलङ्कार होता है। जब नायिका के चित्त में रमणीय वस्तुओं को देखकर चंचलता का भाव उत्पन्न होता है, तो उसे कुतूहल जानना चाहिए। जब नायिका यौवन के उत्पन्न होने परे अकारण हँसी अथवा हास्य का प्रदर्शन करती है, तो वहाँ पर "हसित" नामक भाव होता है। जब नायिका अपने प्रियतम के समक्ष अकारण भयभीत होती है या घबराती है, तो उसे "चकित" कहा जाता है। नायिका जब अपने प्रियतम के साथ विहार के समय काम-क्रीड़ा का भी आनन्द लेती है, तो वहाँ पर "केलि" नामक अलङ्कार होता है। यहाँ पर द्रष्टव्य है कि आचार्य विश्वनाथ ने भरत सम्मत दस स्वभावज अलङ्कारों के साथ-साथ आठ और स्वभावज अलङ्कारों की व्याख्या की है। यद्यपि इनमें कुछ ऐसे भाव हैं, जो पूर्ववर्णित भरत-प्रणीत अलङ्कारों में ही तिरोहित हैं, किन्तु उन तिरोहित अलङ्कारों को आचार्य विश्वनाथ ने पुष्पित-पल्लवित किया है। नायिकाओं में ये मद, तपन, केलि, चकित, हसित इत्यादि स्वाभाविक गुण-धर्म पाए जाते हैं, जिनको आचार्य विश्वनाथ ने शास्त्रीय रूप प्रदान किया है। इसका करण यह भी हो सकता

है कि प्राचीनतम नाट्यकला प्रमुख रूप से राजदरबारों में ही केन्द्रित थी, किन्तु आचार्य शिवनाथ के काल में यह कला लोकानुरंजनी कला अर्थात् जनसामान्यकी कला के रूप में विकसित हुई । अन्तःपुर और राजदरबारों के कथानकों में नायिकाओं के चरित्र-चित्रण में अत्यन्त जटिल स्थिति थी, क्योंकि राजदरबार में प्रदर्शित किए जाने वाले नाट्यों में कठोर नैतिक अनुशासन तथा राजकीय नियम एवं कानूनों का पालन किया जाता था । इसी कारणवश आचार्य शिवनाथ ने जनसामान्य की नायिकाओं में पाए जाने वाले जो आठ गुण-धर्म हैं, उनको शास्त्रीय रूप प्रदान किया है ।

उपर्युक्त व्याख्याओं से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भरत एवं परवर्ती आचार्यों ने नायिकाओं की तीन प्रकार के अलङ्कारों की गणना की है – अंगज, स्वभावज तथा अयत्नज । अंगज अलङ्कारों के माध्यम से नायिकाओं में सर्वप्रथम विकार का प्रकटीकरण होता है । यह प्रकटीकरण निर्विकार रूप सत्त्व का ही परिणाम होता है, किन्तु इसका प्रभाव शारीरिक अङ्गों पर भी पड़ता है । आचार्य धनञ्जय ने भाव का लक्षण देते हुए कहा है कि निर्विकारात्मक सत्त्व से विकार के सर्वप्रथम स्फुरण को ही भाव कहते हैं[1] । धनञ्जय द्वारा दी गई भाव की इस परिभाषा से स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि उनका भाव के विषय में मत पूर्णतः भरत पर ही आधृत है तथा इसके साथ ही साथ अन्य किसी भी परवर्ती आचार्य ने भाव की इतनी स्पष्ट एवं सटीक व्याख्या नहीं की है ।

1- निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद् भावस्तत्राद्यविक्रिया । -दशरूपक 2/33

भरत एवं परवर्ती आचार्य वस्तुतः श्रृङ्गार-रस को दृष्टिगत रखते हुए ही अलङ्कारों की व्याख्या करते हुए प्रतीत होते हैं। श्रृङ्गार रस के स्फुरण एवं प्रकटीकरण-हेतु नायिकाएँ क्रमागत तीन स्थितियों में संचरित होती है। प्रथमतः - विकार का प्रकटीकरण, द्वितीयतः -अङ्गों में विकार का उत्पन्न होना तथा तृतीयतः - श्राङ्गारिक भाव एवं रस की पूर्ण अभिव्यक्ति। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, हाव तथा हेला भाव के श्राङ्गारिक विकास की क्रमागत तीन स्थितियों का आकलन समस्त आचार्यों ने किया है। स्वभावज अलङ्कार की व्याख्या के विषय में भरत तथा परवर्ती आचार्यों में साम्य है, किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसकी व्याख्या अयत्नज अलङ्कारों के उपरान्त की है। स्वभावज अलङ्कार के अन्तर्गत स्वाभाविक अनुकरण, विलक्षण प्रकार की चेष्टाएँ, सौन्दर्य का विकास, आलङ्कारिक एवं श्राङ्गारिक वस्तुओं से सजना, स्वाभाविक क्रोध, ईर्ष्या, स्मृति तथा सुकुमार अङ्गों का सहज प्रकटीकरण किया जाता है। इस विषय में समस्त आचार्य एकमत हैं, किन्तु जैसा कि हम पूर्व ही वर्णन कर चुके हैं कि आचार्य विश्वनाथ आठ प्रकार के अन्य स्वाभाविक अलङ्कारों की व्याख्या भी करते हैं। जो अन्य समस्त परवर्ती आचार्यों से भिन्न है। अयत्नज अलङ्कार के विषय में भी भरत तथा परवर्ती आचार्यों में समानता परिलक्षित होती है, किन्तु कुछ आचार्यों ने कहीं कहीं भरत के क्रम को नहीं अपनाया है, यथा-धनञ्जय ने प्रागल्भ्य को पंचम स्थान पर रखा है, जबकि भरत इसे षष्ठ स्थान पर रखते हैं। यद्यपि अयत्नज अलङ्कार के अन्तर्गत व्याख्यात विषयवस्तु में कोई सूक्ष्म अन्तर निकालना कठिनतम है, परन्तु फिर भी अयत्नज अलङ्कार के अन्तर्गत शोभा, कान्ति, दीप्ति इत्यादि में क्रमागत श्राङ्गारिक

विकास का आरोहण होता है और इनमें अन्त:सम्बन्ध भी प्रतीत होता है । अन्त में हम यह सकते हैं कि नायिकाओं में पाए जाने वाले अलङ्कार मात्र श्राङ्गारिक आभूषण न होकर उनके हाव, भाव, मानसिक स्थिति, सामाजिक स्थिति के अनुकूल नैतिक आचरण का निदर्शन तथा नाट्य सम्बन्धी भावों के प्रकटीकरणरूप होते हैं । यहाँ पर ध्यातव्य है कि नाट्य-शास्त्र समाज के व्यवहार-शास्त्र से जुड़ा है । इस कारणवश ये समस्त आलङ्कारिक गुण-धर्म नारियों के शोभावर्धनार्थ सहज धर्म प्रतीत होते हैं ।

प्रायोगिक-पक्ष

भरत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत अलङ्कारों की व्याख्या प्राय: समान ही है । इसी कारणवश इसके प्रायोगिक पक्ष में हम कुछ प्रमुख हो नाटकों में वर्णित नायिकाओं के अलङ्कारों का आकलन करेंगे । सर्वप्रथम हम अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला में विद्यमान अलङ्कारों की विवेचना करेंगे ।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला के अलङ्कारों का मूल्याङ्कन -

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में शकुन्तला का चरित्र एक आदर्श नायिका का है । यद्यपि वह मर्यादा एवं शालीनता की प्रतिमूर्ति है, तथापि प्रस्तुत नाटक के प्रथम अङ्क में जब शकुन्तला अपनी प्रिय सखियों अनसूया तथा प्रियंवदा

के साथ रङ्गमञ्च पर उपस्थित होती है तथा अपने निकट ही नायक दुष्यन्त को देखकर उसके हृदय में विकार उत्पन्न होता है । नायिका की मनःस्थिति में विकार की अभिव्यक्ति होने के कारणवश यहाँ पर "भाव" नामक अलङ्कार है[1] । महाकवि ने द्वितीय अङ्क में शकुन्तला में "हाव" नामक अलङ्कार प्रदर्शित किया है । इसमें शकुन्तला के नेत्रों, भौंहों आदि में श्रृङ्गार-रसोत्पादक माधुर्य-युक्त विकार उत्पन्न होता है, इसकी पुष्टि राजा के ही कथन से होती है[2] । प्रथम अङ्क में ही जब नायिका शकुन्तला की सखी अनसूया राजा से कहती है कि " आपके आगमन से हम समस्त आश्रमवासी सनाथ हो गए हैं," तब नायिका शकुन्तला शाङ्गारिक लज्जा[3] का अभिनय करती है । यहाँ पर श्रृङ्गार-रस-पूर्ण ललित अभिनय होने के कारणवश "हेला" नामक अलङ्कार का प्रकटीकरण हुआ है ।

नायिका शकुन्तला में स्वाभाविक अलङ्कारों के निदर्शन-हेतु हम देखते हैं कि प्रथम अङ्क में राजा दुष्यन्त जब यह सोचता है कि नायिका शकुन्तला भी सम्भवतः मुझसे प्रेम करने लगी है, तो यहाँ पर मुख, कर्ण, नेत्रादि

1- शकुन्तला- किं नु खल्विमं जनं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता । -अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क ।

तथा

शकुन्तला - हृदय मा उत्ताम्य । एषा त्वया चिन्तितान्यनसूया मन्त्रयते । -अभिज्ञानशाकुन्तलम प्रथम अङ्क ।

2- राजा - अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितं हसितमन्यनिमित्तकृतोदयम् ।
विनयवारितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो न च संवृतः ।।
-अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/ ।।

3- शकुन्तला श्रृङ्गारलज्जां रूपयति ।
-अभिज्ञानशाकुन्तलम् प्रथम अङ्क ।

से नायिका के नायक के प्रति प्रेमभाव में विशिष्टतापूर्वक आकर्षित होने के कारण-श्रा "विलास" नामक स्वाभाविक अलंकार महाकवि ने दर्शाया है, जिसकी पुष्टि राजा के इो कथन से होती है[1]। प्रथम अङ्क में हो जब नायिका वल्कल वस्त्र धारण किए रहती है तो राजा स्वयं उसके सौन्दर्य का प्रशंसा करता है[2]। यहाँ पर अलङ्कार विहीना सौन्दर्यशालिनी शकुन्तला की शोभा का वर्णन होने के कारण "विच्छित्ति" नामक अलङ्कार है। सप्तम अङ्क में जब नायक और नायिका का मिलन होता है तब हर्ष के साथ विषाद का सम्मिश्रण होता है, यह भाव "किलकिंचित" नामक अलङ्कार उत्पन्न करता है[3]। द्वितीय अङ्क में नायिका शकुन्तला लीला, हेला आदि चेष्टाओं के द्वारा (नायक दुष्यन्त के देखने पर) उसे देखती है अर्थात् नायिका का नायक के भावों में भावित हो जाने के फलस्वरूप "मोट्टायित" नामक अलङ्कार निदर्शित है[4]। नायक दुष्यन्त जब नायिका शकुन्तला का अधर-पान करने हेतु उसके मुखमण्डल को ऊपर उठाता है, तब नायिका शकुन्तला इसका विरोध प्रकट करने की चेष्टा का अभिनय करती है। ऐसे

1- वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसंमुखीना भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।।
-अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/29

2- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/19

3- शकुन्तला- जयतु जयत्वार्यपुत्रः (इत्यर्धोक्ते वाष्पकण्ठो विरमति)
-अभिज्ञानशाकुन्तलम्, सप्तम अङ्क।

4- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/11

स्थल पर "कुट्टमित" नामक अलङ्कार है[1] । तृतीय अङ्क में राजा शकुन्तला के विषय में कहता है कि "जब शकुन्तला अपनी आँखें दूसरी ओर घुमाती थी, तब मैं समझता था कि वह मेरे ही ऊपर स्नेह भरी चितवन डाल रही है ।" उस विलासयुक्त चाल तथा अपनी सखियों के प्रति विरोध प्रकट करने एवं उसके चरणन्यासादि का सुकुमारता से संचालन होने से "ललित" नामक अलङ्कार है[2] । तृतीय अङ्क में जब नायिका शकुन्तला अपने रोग का कारण अपनी प्रिय सखियों के समक्ष लज्जावश नहीं प्रकट कर पाती है, तो यहाँ पर "विहृत" नामक अलङ्कार उत्पन्न होता है[3] ।

नायिका शकुन्तला के अयत्नज अलङ्कारों के प्रदर्शन में नायिका की शोभा और अनुपम सौन्दर्य की व्याख्या द्वितीय अङ्क में राजा के अभि-कथनों से होती है[4] । यहाँ पर शोभा का वर्णन होने के कारण "शोभा" नामक अलङ्कार उत्पन्न होता है । तृतीय अङ्क में जब शकुन्तला कामज्वर से पीड़ित है तब राजा को उसकी पीड़ा भी अत्यधिक सुन्दर दिखाई देती है । यहाँ पर

1- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/22 के पश्चात् ।

2- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/2

3- <u>शकुन्तला</u>- सखि यतः प्रभृति मम दर्शनपथमागतः स तपोवनरक्षिता ।

राजर्षिः ------------ (इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति।)

-अभिज्ञानशाकुन्तलम्, तृतीय अङ्क

4- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/20 तथा 2/2,9.

द्रष्टव्य है कि महाकवि ने कामज्वर तथा लू लगने दोनों ही दशाओं की तुलना की है। जब शोभा का कामपीड़ा से युक्त होने से मिश्रित भाव उत्पन्न होता है तो यह मिश्रित भाव "कान्ति" नामक अलङ्कार का द्योतक होता है। अतः उपर्युक्त स्थल पर "कान्ति" नामक अलङ्कार है। जब कान्ति नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है तो इसके साथ-साथ कामविकार के बढ़ जाने से नायिका में "दीप्ति" नामक अलङ्कार उत्पन्न हो गया है, जिसकी पुष्टि राजा के कथन से होती है[1]। द्वितीय अङ्क में नायिका की सुकुमार चेष्टाओं के फलस्वरूप "माधुर्य" नामक अलङ्कार है।[2] सप्तम अङ्क में नायिका शकुन्तला जब दुष्यन्त से मिलती है, तब यद्यपि वह नायक द्वारा पूर्णरूप से तिरस्कृत की जा चुकी है, फिर भी वह परुष वचन नहीं बोलती और अपनी विनयशीलता स्थिर रखती है तथा राजा जब उसके पैरों में गिरकर क्षमा माँगता है तो वह कह उठती है - "उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीद्येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि विरसः संवृत्तः।" यहाँ पर औदार्य नामक अलङ्कार का अत्यन्त सुन्दर प्रकटीकरण है। सप्तम अङ्क में ही दुष्यन्त और शकुन्तला के मध्य जो कथोपकथन हैं, उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नायिका शकुन्तला का चरित्र अत्यन्त उदात्त, निरभिमानितापूर्ण, चपलता-रहित है। यह नायिका की चित्तवृत्ति उसके धैर्यशालिनी होने का पूर्णरूपेण परिचय देती है। अतएव यहाँ पर "धैर्य" नामक अयत्नज अलङ्कार उसके विशिष्ट चारित्रिक गुणों से जुड़ा हुआ है।

1- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 3/8

2- अभिज्ञानशाकुन्तलम् 2/2

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नायिका शकुन्तला में तीन आंगिक, सात स्वाभाविक और छः अयत्नज अलङ्कार महाकवि ने सूक्ष्मता से दर्शाए हैं । ध्यातव्य है कि भरतसम्मत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्मत अलङ्कारों का इतनी अधिक मात्रा में किसी एक ही नायिका के चरित्र में सन्निवेश करना महाकवि कालिदास की सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है । किसी एक विशिष्ट चरित्र में इतनी अधिक मात्रा में अलङ्कारों का प्रकटीकरण करना अत्यन्त गुरुतर कार्य है, किन्तु महाकवि ने इसे अत्यन्त सहजता से करते हुए नायिका शकुन्तला के उदात्त और अविस्मरणीय चरित्र को उद्घाटित किया है, जो उनके ज्ञान की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हैं । वास्तव में अलङ्कार-विहीन नाट्य की कल्पना करना ही सम्भव नहीं है, क्योंकि अलङ्कार ही सुमनस् सामाजिकों को आनन्द रूपी रस की चर्वणा कराते हैं ।

मालविकाग्निमित्रम् की नायिका मालविका के अलङ्कारों का मूल्याङ्कन -

मालविकाग्निमित्रम् की नायिका "मालविका" कुलजा कोटि की नायिका है और उसकी प्रकृति के अनुरूप उसमें पाए जाने वाले अधोलिखित अलङ्कार उसके जीवन के अन्तः तथा बाह्य सौन्दर्य, सलज्जता, सुकुमारता, पवित्रता एवं उसकी स्नेहशीलता की उज्ज्वलता को विभासित करते हैं । देह के माध्यम से मानव-मन में व्याप्त संवेदनामय भावों की रस के रूप में अभिव्यक्ति प्रस्तुत नाटक में महाकवि कालिदास ने अत्यन्त कुशलता के साथ प्रदर्शित की है । इस नाटक के

द्वितीय अङ्क में नायिका मालविका के मन के समस्त भावों का निदर्शन होने के फलस्वरूप "भाव" नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है ।[1] द्वितीय अङ्क में ही नायिका मालविका के नेत्रादि अङ्गों में श्रृङ्गार रसोत्पादक मधुर विकार उत्पन्न होने से "हाव" नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है ।[2] तृतीय अङ्क में मालविका द्वारा जब वृक्ष पर पादप्रहार किया जाता है तब नायक उससे चरण में पीड़ा के विषय में पूछता है और इस पर मालविका लज्जापूर्ण अभिनय करती है[3] जिसके फलस्वरूप "हेला" नामक अलङ्कारिक भाव का निदर्शन हुआ है ।

मालविकाग्निमित्रम् नाटक में नायिका मालविका में तीन स्वभावज अलङ्कार मिलते हैं - किलकिंचित, कुट्टमित एवं ललित । चतुर्थ अङ्क में रानी की कैद से छूटकर राजा के चित्र को साक्षात् राजा ही समझ कर प्रणाम करती है, किन्तु राजा को न पाकर उसमें अत्यन्त विषाद उत्पन्न होता है । हर्ष और विषाद के सम्मिश्रण होने के फलस्वरूप यहाँ पर "किलकिंचित" नामक अलङ्कार प्रकट हुआ है ।[4] चतुर्थ अङ्क में जब रूठी हुई मालविका को राजा

1- दुर्लभः प्रियो मे तस्मिन्भव हृदय निराशं
मह्यो अपाङ्गो मे परिस्फुरति किमपि वामः ।
एष स चिरदृष्टः कथं पुनरूपनेतव्यो
नाथ मां पराधीनां त्वयि परिगणय सतृष्णाम् ।।
-मालविकाग्निमित्रम् 2/4

2- मालविकाग्निमित्रम् 2/6

3- राजा- किसलयमृदोर्विलासिनि कठिने निहतस्य पादपस्कन्धे ।
चरणस्य न ते बाधा संप्रति वामोरू वामस्य ।।
(मालविका लज्जां नाटयति) -मालविकाग्निमित्रम् 3/18

3- वही 4/7 तथा इसके पूर्व मालविका का संवाद ।

आलिङ्गित करने की चेष्टा करता है तो मालविका झूठा विरोध प्रकट करती है ।[1] ऐसे दृश्य में "कुट्टमित" नामक अलङ्कार है । द्वितीय अङ्क में जब मालविका नृत्य प्रदर्शन करती है तो सुकुमार अङ्ग संचालन होने से "ललित" नामक अलङ्कार प्रकट हुआ है ।

नायिका मालविका में कुछ अयत्नज अलङ्कार भी प्रदर्शित किये गये हैं । द्वितीय अङ्क में राजा अग्निमित्र मालविका के रूपमाधुर्य की प्रशंसा करते हुए कहता है कि "जो स्वभाव से ही सुन्दर है उस मालविका को विधाता ने ललित कला के ज्ञान से विभूषित करके मेरे लिए कन्दर्प के बाण को विष में बुझा दिया है ।"[2] द्वितीय अङ्क में ही राजा के आत्मगत और अपवार्य कथनों से उसके यौवन तथा सौन्दर्य की शोभा का अत्यन्त मनोरम चित्रण है ।[3] इसके साथ ही साथ पञ्चम अङ्क में जब नायिका मालविका रेशमी वस्त्रों को धारण करके नायक से मिलती है तो राजा उसकी प्रशंसा अत्यन्त सरसता से करता है ।[4] इन सभी उपर्युक्त स्थलों पर नायिका मालविका के रूप, यौवन तथा लावण्य आदि की प्रशंसा होने से "शोभा" नामक अलङ्कार है । सम्पूर्ण नाटक में मालविका चंचलता, आत्मप्रशंसा तथा आत्माभिमान इत्यादि से पूर्णतया रहित है । उसकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति अत्यन्त सरल है । उसके धैर्यशालिनी होने के कारण

1- मालविकाग्निमित्रम् 4/15

2- वही 2/13

3- वही 2/2,3

4- वही 5/7

नायिका में "धैर्य" नामक अलङ्कार प्राप्त होता है, जिसकी पुष्टि तृतीय अङ्क में मालविका और बकुलावलिका के कथोपकथनों से की जा सकती है ।[1]

इस भाँति हम देखते हैं कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला की अपेक्षा मालविका के चरित्र में कुछ कम ही अलङ्कारों का समावेश महाकवि कालिदास ने किया है । सम्भवतः मालविका के प्रणय-प्रसंग तथा शकुन्तला के प्रणय-प्रसंग में पर्याप्त अन्तर होने के फलस्वरूप ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है । यद्यपि महाकवि ने मालविका के अन्तरतम के भावों को उद्-घाटित करने के लिए मालविकाग्निमित्रम् में भी सखी बकुलावलिका के चरित्र को विकसित किया है, किन्तु भाव-सम्प्रेषण की दृष्टि से प्रियंवदा और अनसूया शकुन्तला के चरित्र को अधिक सहज और सरस बनाती हैं । नायिका मालविका में तीन आङ्गिक, तीन स्वभावज और दो अयत्नज अलङ्कारों का समावेश हुआ है । ये सभी अलङ्कार उसके चरित्र को उतना नहीं उभार पाते, जितना कि नायिका

1- बकुलावलिका - सखि । अरुणशतपत्रमिव शोभते ते चरणम् । सर्वथा भर्तुरङ्कपरिवर्तिनी भव ।

मालविका - सखि । मा अवचनीयं मन्त्रयस्व ।

बकुलावलिका-मन्त्रयितव्यमेव मन्त्रितं मया ।

मालविका - प्रिया खल्वहं तव ।

बकुलावलिका-न केवलं मम ।

मालविका - कस्य वान्यस्य ।

बकुलावलिका-गुणेष्वभिनिवेशिनो भर्तुरपि ।

मालविका -अलीकं मन्त्रयसे । एतदेव मयि नास्ति ।

मालविकाग्निमित्रम्, तृतीय अङ्क

शकुन्तला का चरित्र अधिक मात्रा में अलङ्कारों के प्रयोग से उद्घाटित हुआ है। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि अलङ्कार भाव-रस के आधार हैं, जो देह के माध्यम से मन की संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करते हैं। नायिका मालविका अपने कथानक के अनुरूप एक श्रेष्ठ चरित्र का प्रदर्शन तो करती है, किन्तु त्याग और सहनशीलता की मूर्ति शकुन्तला के समकक्ष नहीं सिद्ध होती। अस्तु, तात्पर्य यह है कि अलङ्कारों का समावेश नायिका के चरित्र को उद्घाटित करने में एक महत्त्वपूर्ण तथा नितान्त आवश्यक तत्त्व है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्य में जितनी अधिक मात्रा में अलङ्कारों का समावेश होता है, वे उतनी ही अधिक नाट्य की उत्कृष्टता की सिद्धि करते हैं।

मृच्छकटिकम् की नायिका वसन्तसेना के अलङ्कारों का मूल्याङ्कन -

शूद्रकरचित मृच्छकटिक नाटक की नायिका वसन्तसेना उज्ज्वल चरित्र से युक्त, उदारहृदया तथा अनन्त त्याग एवं निष्काम-निश्छल प्रेम की प्रतिमूर्ति है। नायिका वसन्तसेना यद्यपि गणिका है किन्तु फिर भी अपने उदात्त चरित्र के फलस्वरूप वह कुलवधू-पद पर अधिष्ठित होती है। अब हम नायिका वसन्तसेना में प्राप्त होने वाले अलङ्कारों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे -

प्रथम अङ्क में शकार और विट जब वसन्तसेना का पीछा करते हैं और अनायास ही पीछा करते-करते उन दोनों के द्वारा वसन्तसेना अपने प्रियतम के घर के निकट पहुँचा दी जाती है, तब वसन्तसेना के आत्मगत कथन से यह

ज्ञात होता है कि नायक चारुदत्त के प्रति उसके मन में पूर्व रूप से ही "भाव" विद्यमान है, जिसकी पुष्टि वसन्तसेना के ही कथन से होता है ।[1] प्रथम अङ्क में ही "हाव" नामक अलङ्कार विकसित हुआ है । यहाँ पर वसन्तसेना चारुदत्त का उत्तरीय लेकर विभूषित होती है, तो उसमें "भाव" की अपेक्षा आङ्गिक विकार अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है । यह नायक चारुदत्त के प्रति उसकी आसक्ति को प्रकट करता है ।[2] महाकवि कालिदास ने इसी अङ्क में नायिका वसन्तसेना को श्रृङ्गार-रस से पूर्ण ललित अभिनय की उत्कृष्टता तक पहुँचाया है । इस श्रृङ्गार-रस से पूर्ण ललित अभिनय के फलस्वरूप "हेला" भाव का अभ्युदय हुआ है ।[3] इस हेला भाव का प्रकटीकरण छठे अङ्क में भी हुआ है, जब नायिका वसन्तसेना चारुदत्त से मिलने के लिए उत्कण्ठित है ।[4] प्रस्तुत नाटक में नायिका वसन्तसेना चारुदत्त के प्रणय में अत्यन्त अनुरक्त है । उसकी वाणी और वेश-विन्यास कई स्थलों पर "लीला" नामक अलङ्कार प्रकट करते हैं । नाटक के द्वितीय अङ्क में वसन्तसेना के संवादों के माध्यम से "लीला" नामक अलङ्कार का आस्वादन किया जा सकता है ।[5] नायिका वसन्तसेना अपने प्रियतम को

1- वसन्तसेना - आश्चर्यम् । वामतस्तस्य गृहमिति यत्सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेन उपकृतम् । येन प्रियसङ्गमः प्रापितः ।

मृच्छकटिकम्, प्रथम अङ्क

2- मृच्छकटिकम्, द्रष्टव्य 1/53 के पूर्व वसन्तसेना का कथन ।

3- वही, द्रष्टव्य 1/54 के पूर्व कथोपकथन ।

4- वही, द्रष्टव्य 6/1 के पूर्व कथोपकथन ।

5- मृच्छकटिकम्, 1/15 के पूर्व तथा 1/20 के पश्चात् वसन्तसेना के संवाद ।

उपस्थिति में विलक्षणआङ्गिकविकारों का प्रदर्शन करता है, जिसके फलस्वरूप "विलास" नामक स्वभावज अलङ्कार उत्पन्न होता है । इसकी पुष्टि विदूषक एवं चारुदत्त के कथोपकथन से होती है[1]। इसी प्रकार पञ्चम अङ्क में भी नायक चारुदत्त की उपस्थिति में वसन्तसेना में "विलास" नामक भाव व्युत्पन्न हुआ है । इसकी पुष्टि स्वयं वसन्तसेना के कथन से होता है[2] । षष्ठ अङ्क में नायिका अपने प्रियतम के प्रणय में इतनी अधिक उत्कण्ठित हो जाती है कि वह दिवस एवं रात्रि का भी बोध नहीं कर पाती । यहाँ पर "विभ्रम" नामक अलङ्कार है, क्योंकि नायिका वसन्तसेना प्रेम की चरम अवस्था में पहुँच चुकी है[3] । नाटक के द्वितीय अङ्क में भी वसन्तसेना कुछ ऐसी बातें करती है, जो "विभ्रम" की अवस्था का बोध कराता है[4] । पञ्चम अङ्क में नायिका वसन्तसेना विलास की अतिशय अवस्था को प्राप्त होती है । यहाँ पर चारुदत्त विदूषक विट एवं वसन्तसेना रङ्गमंच पर उपस्थित हैं और विट वसन्तसेना की ओर लक्ष्य करके उसके अतिशय विलास की अवस्था का वर्णन करता है, जिसके फलस्वरूप

1- मृच्छकटिकम्, 1/57 तथा 58 के पूर्व तथा पश्चात् के कथोपकथन ।

2- वसन्तसेना- (प्रविश्योपसृत्य च पुष्पैस्ताडयन्ती) अयि द्यूतकर । अपि सुखस्ते प्रदोषः ।
—मृच्छकटिकम्, पञ्चम अङ्क

3- मृच्छकटिकम्, 6/1 के पूर्व वसन्तसेना एवं चेटी के कथोपकथन ।

4- मृच्छकटिकम्, द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में ही वसन्तसेना और चेटी का कथोपकथन ।

यहाँ "ललित" नामक स्वभावज अलङ्कार उत्पन्न हुआ है[1]।"

नायिका वसन्तसेना में कुछ अयत्नज अलङ्कारों का भी विकास हुआ है। वह अतीव सुन्दरी युवती है। उसे उज्जयिनी नगरी का विभूषण कहा गया है। चारूदत्त स्वयं उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि यह तो शरदकालीन मेघ से आच्छन्न चन्द्रकला की भाँति दृष्टिगोचर हो रही है[2]।" विट भी उसके रूप और उदारता की चर्चा करते हुए कहता है कि "उदारता का स्रोत, सौन्दर्य की रति, सुमुखी, अलङ्कारों को भी अलङ्कृत करने वाली तथा सौजन्य की नदी नष्ट हो गई[3]"। इस कारण से यहाँ पर "शोभा" नामक अलङ्कार है। नायिका वसन्तसेना में शोभा नामक अलङ्कार विस्तार को प्राप्त होता हुआ "कान्ति" नामक अलङ्कार के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। नाटक के पञ्चम अङ्क में जब नायक चारूदत्त और वसन्तसेना के मिलन का दृश्य है, तब नायिका वसन्तसेना के कान्ति के कारण ही नायक में काम की भावना का विस्तार होता है[4]। इसी कारणवश यहाँ पर "कान्ति"

1- मृच्छकटिक 5/12.

2- चारूदत्त------------------------------------।

छादिता शरदभ्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते।

-मृच्छकटिकम् 1/54

3- मृच्छकटिकम् 8/38

4- चारूदत्त - (स्पर्शनाट्येन प्रत्यालिङ्गय)

भो मेघ ! गम्भीरतरं नद त्वं तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे।
संस्पर्शरोमाञ्चितजातरागं कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम्॥

-मृच्छकटिकम् 5/47.

नामक अलङ्कार है। नायिका वसन्तसेना में "औदार्य" नामक अलङ्कार भी विद्यमान है। नायक की विषम परिस्थितियों (अर्थात् निर्धनता) में भी वह नायक चारूदत्त को ही प्रधानता देती है। वह प्रत्येक परिस्थिति में नायक चारूदत्त के प्रति पूर्णतया समर्पित है। इस सन्दर्भ में कई स्थलों पर अच्छे उदाहरण उपलब्ध हैं[1]। उसकी उदारता का उत्कृष्ट उदाहरण इस स्थल से दिया जा सकता है, जब कि वह चारूदत्त के पुत्र रोहसेन द्वारा स्वर्ण की गाड़ी के लिए हठ करने पर अपने प्रियतम चारूदत्त के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की भावना से अपने सम्पूर्ण स्वर्णाभूषणों से रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी को भर देती है[2]। अतः उसमें "औदार्य" नामक अलङ्कार अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है। वसन्तसेना एक दृढ़ संकल्पा नारी है। वह चारूदत्त की प्राप्ति-हेतु अनेक विपत्तियों का सामना करने के लिए उद्यत दिखाई देती है। वह न तो विपत्तियों से घबराती है और न ही मृत्यु से। वह चारूदत्त को प्राप्त करने के लिए आभूषणन्यास, दुर्दिन में अभिसरण, पुष्पकरण्डक नामक उपवन-गमन इत्यादि कार्य करते हुए मरणासन्न अवस्था को भी प्राप्त हो जाती है।

1- मृच्छकटिकम्- 1/56 के पश्चात् वसन्तसेना का कथन तथा 6/1 के पूर्व वसन्तसेना के संवाद।

2- वसन्तसेना - जात। मुखेन अतिकरुणं मन्त्रयसि। (नाट्येनाभरणान्यवतार्य रुदति) एषा इदानीं ते जननी संवृत्ता। तद् गृहाणैतमलङ्कारकम्, सौवर्णशकटिकां घटय।

-मृच्छकटिकम् षष्ठ अंक।

यह सब उसके धैर्यशालिनी होने के द्योतक हैं। लक्ष्य-प्राप्ति -हेतु वह अपने असह्य कष्टों को भी भूल जाती है। इस प्रकार नायिका वसन्तसेना में "धैर्य" नामक अलङ्कार भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है।

मालतीमाधवम् नाटक की नायिका मालती के अलङ्कारों का मूल्याङ्कन-

महाकवि भवभूतिरचित मालतीमाधवम् नाटक में भी अलङ्कारों का उत्तम चित्रण किया गया है। इस नाटक की नायिका मालती नाटक के समस्त स्त्री-पात्रों में प्रमुख भूमिका निभाती है तथा सम्पूर्ण नाट्य का इतिवृत्त उसी पर केन्द्रित है। उसके चरित्र में स्त्रियोचित समस्त सद्गुणों का सम्यक् विकास हुआ है। अतीव सुन्दरी होने के साथ-साथ वह दया, परदुःख-कातरता, सहानुभूति, करुणा, शील, संकोच आदि प्रकृतिस्थ गुणों से युक्त तथा नारी-सुलभव्यवहार में सकुशल नायिका के रूप में चित्रित है। वह अपने प्रियतम पर सर्वस्व न्योछावर कर देने की भावना के प्रति कटिबद्ध है। नाटक के अनुशीलन से हम अधोलिखित अलङ्कारों को उल्लिखित कर सकते हैं।

प्रस्तुत नाटक के प्रथम अङ्क में नायिका मालती में सात्त्विक विकार उत्पन्न होता है। इससे "भाव" नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है, जिसकी पुष्टि नायक माधव के कथन से होती है[1]। नायक के द्वारा कहे गए

1- मालतीमाधवम् - 1/26

कथन से यह भी ज्ञात होता है कि नायिका में "हाव" नामक अलङ्कार उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है[1]। भवभूति ने नायिका मालती में "हेला" नामक अलङ्कार का विकास प्रस्तुत नाट्य में कई स्थान पर किया है, जो कि महाकवि की विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है, क्योंकि "हेला" अलङ्कार नायिका के प्रगाढ़ प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति को स्पष्ट करता है। नारी-हृदय के मर्मज्ञ कवि भवभूति द्वारा की गई "हेला" नामक अलङ्कार की अत्यन्त सरस एवं सहज व्याख्या प्रस्तुत नाट्य में द्रष्टव्य है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य महाकवियों की अपेक्षा भवभूति ने भाव से हाव और हाव से हेला भाव का प्रस्तुतीकरण अधिक कुशलता से किया है, जो सुमनस् सामाजिकों को प्रेम के चरम उत्कर्ष की चर्वणा कराने में सक्षम है।

1- माधवः - अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः।
तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्य-
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत्।
-मालतीमाधवम् 1/27

2- स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम्।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम्।
-मालतीमाधवम् 1/28 तथा द्रष्टव्य
1/29, 30, 32 तथा द्वितीय अंक के प्रारम्भ में दासी कथन तथा 2/12 के उपरान्त लवङ्गिका का कथन।

अंगज अलङ्कारों के अतिरिक्त नायिका मालती ने चार स्वभावज अलङ्कारों का भी समावेश है - लीला, किलकिंचित, कुट्टमित और विहृत। नाटक के छठे अङ्क में मालती और माधव रङ्गमंच पर उपस्थित हैं। यहाँ पर मालती वाणी तथा चेष्टा आदि के द्वारा नायक माधव के अनुकूल है। इसकी पुष्टि नायक माधव के कथन से होती है, जिसके फलस्वरूप यहाँ पर "लीला" नामक अलङ्कार स्पष्ट होता है[1]। नाटक के चतुर्थ अङ्क में करुणा, अनुराग, हर्ष, और विषाद के फलस्वरूप "किलकिंचित" नामक स्वभावज अलङ्कार का प्रकटीकरण हुआ है। इसकी पुष्टि कामन्दकी और माधव के कथोपकथन से होती है[2]। नाटक के नवें अङ्क में शुद्ध विष्कम्भक की समाप्ति के उपरान्त मकरन्द और माधव रङ्गमञ्च पर उपस्थित हैं। उनके वार्तालाप से मालती में पूर्व रूप से अवस्थित "कुट्टमित" भाव का प्रस्फुरण हुआ है। नायक माधव के कथन से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार उसकी प्रियतमा मालती ने आङ्गिक स्पर्श के फलस्वरूप सुखात्मक अनुराग की अनुभूति की तथा मालती एवं माधव किस प्रकार से अतिशय प्रेम की अतिरेक अवस्था तक पहुँचे। स्वयं माधव का यह कहना है कि "उसके अनुराग के उत्कर्ष के लिए और क्या बताऊँ"। यहाँ पर भवभूति "कुट्टमित" अलङ्कार का श्रेष्ठतम विकास किया है[3]। नायिका

1- मालतीमाधवम् 6/8

2- मालतीमाधवम् 4/6 के पश्चात् कामन्दकी तथा माधव का कथोपकथन।

3- माधवः -

सरसकुसुमक्षामरङ्गैरनङ्गमहाज्वर-
श्चिरमविरतोन्माथी सोढः प्रतिक्षणदारुणः।
तृणमिव ततः प्राणान्मोक्तुं मनो विधृतं तया
किमपरमतो निर्व्यूढं यत्करार्पणसाहसम्।
-मालतीमाधवम्, 9/10

मालती में "विहृत" नामक अलङ्कार भी विद्यमान है । तृतीय अङ्क के प्रारम्भ में जब रङ्गमञ्च पर मालती, माधव, लवङ्गिका तथा कामन्दकी इत्यादि उपस्थित हैं, तब कामन्दकी के कथन से बात का पता चलता है कि नायिका मालती का श्रम से थका हुआ मुख प्रियतम दर्शन के समान व्यवहार करने वाला बन गया है[1]। अन्य सभी लोगों की उपस्थिति में मालती इस बात पर लज्जा का नाट्य प्रदर्शन करती है । इससे "विहृत" नामक अलङ्कार मुखरित हुआ है ।

अयत्नज अलङ्कारों के अन्तर्गत प्रस्तुत नाट्य में नायिका मालती में प्रमुखता से चार अलङ्कारों -शोभा, कान्ति, माधुर्य एवं धैर्य का विशद वर्णन किया गया है । प्रस्तुत नाट्य में नायिका मालती के रूप-माधुर्य, उसके आङ्गिक सौष्ठव तथा उसकी हृदयहारी चितवन का अत्यन्त सजीव चित्रण अनेक स्थलों पर हुआ है, जिसके फलस्वरूप "शोभा" नामक अयत्नज अलङ्कार उत्पन्न हुआ है[2]। नायिका मालती में शोभा का घनीभूत रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ है ।

1- स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमङ्गं
जनयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून्।
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु खेद -
स्त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन । - मालतीमाधवम् 3/8

2- माधवः -
सा रामणीयकनिधेरधिदेवता वा
सौन्दर्यसारसमुदायिनिकेतनं वा ।
तस्याः सखे नियतमिन्दुकलामृणाल-
ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधाः ।।
-मालतीमाधवम्-1/22 तथा द्रष्टव्य 1/37, 3/7

तथा आसक्ति या काम भाव का विस्तार हुआ है, जिससे सहज ही "कान्ति" नामक अलङ्कार का विकास हुआ है[1]। प्रस्तुत नाट्य में नायिका को विपरीत परिस्थितियों में {अर्थात् रोने पर} भी उसकी रमणीयता का भाव अर्थात् उसके आकर्षण में कमी नहीं आती है। ऐसा स्वयं माधव वर्णित करता है[2]। इस कारण से यहाँ पर "माधुर्य" नामक अयत्नज अलङ्कार का विकास हुआ है। नाटक के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि नायिका मालती विभिन्न कठिन परिस्थितियों में भी अधीर नहीं होती। सम्पूर्ण नाट्य में उसमें धैर्य का भाव विद्यमान है। अतएव मालती में "धैर्य" नामक अलङ्कार भी है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि महाकवि भवभूति ने हाव, भाव, हेला तथा अन्य कई अलङ्कारों का अत्यन्त तलस्पर्शी एवं मर्मस्पर्शी चित्रण नायिका मालती में किया है। हेला भाव की उत्कृष्टता महाकवि ने कई स्थलों पर प्रदर्शित की है, जिसके कारण सुमनस् सामाजिकों का ध्यान अनायास ही उन स्थलों पर केन्द्रित हो जाता है। सात्त्विक विकार जब आरम्भ में उत्कृष्ट रूप से "हेला" रूप में प्रकट होता है तो उस स्थिति में सामाजिकों को श्रृङ्गार-रस का पूर्णरूपेण आस्वाद मिलता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भवभूति ने श्राङ्गारिक उत्कर्ष का चरम बिन्दु तक चित्रण किया है।

1- मालतीमाधवम्, 5/9 तथा 1/41

2- मालतीमाधवम्, 8/5

निष्कर्ष

नायिकाओं के अलङ्कारों की भरतप्रणीत व्याख्या श्रृङ्गार-रस के आधार पर ही व्याख्यात हुई है । अलङ्कारों का विकास अवरोहण से आरोहण की ओर गतिमान होता है । आचार्य भरत ने इन अलङ्कारों को नायिकाओं के स्वाभाविक सौन्दर्य-वर्धन के लिए उपादान कारण कहा है, जिन्हें उन्होंने मानव-मन में उत्पन्न होने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति को प्राकृतिक आधार प्रदान किया है । तात्पर्य यह है कि मानव की जो त्रिगुणात्मक प्रकृति होती है,उसी के अनुरूप मानवीय वृत्ति में भावों का प्रस्फुटन और पल्लवन होता है । अलङ्कार वास्तव में नायिकाओं के चरित्र में सजीवता लाते हैं, क्योंकि उनकी भावाभिव्यक्ति में स्वाभाविक सुकुमारता, लालित्य, मधुरता और कोमलता इत्यादि का प्रकटीकरण देह-धर्म के अनुरूप विकसित होता है । इन अलङ्कारों का प्राकृतिक विकास एक अनूठी प्रक्रिया है, जो उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होने के साथ-साथ नाटकीय प्रवृत्ति से तो जुड़ी हुई है, किन्तु इसके साथ ही साथ वास्तविक जीवन में भी इनका यथार्थ मूल्य है । ऋषि भरत ने श्राङ्गारिक भावों के उद्वेलन या स्पष्टीकरण के लिए जिन अलङ्कारों की खोज की है, वे नितान्त प्रकृतिस्थ हैं । सम्भवतः इसी कारणवश संस्कृत-आचार्यों एवं मनीषियों ने इनमें कोई नूतन परिवर्तन नहीं किया है । अस्तु, हम कह सकते हैं कि नायिकाओं के अलङ्कार उनके जीवन-दर्शन का अभिन्न अङ्ग हैं, किन्तु इस सन्दर्भ में कुछ प्रश्न अनुत्तरित भी रह जाते है जिसकी विवेचना अधोलिखित है -

---

ध्यातव्य है कि नायिका के प्रथम प्रणय के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली उसकी भाव-सम्प्रेषण की प्रक्रिया में भावों का प्रदर्शन अलङ्कारों के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार अलङ्कार वे हैं, जो नायिकाओं की आङ्गिक और स्वाभाविक चेष्टाओं का प्रकटीकरण है तथा वे रङ्गमञ्च पर सहजता से प्रस्तुत किये जाते हैं। यहाँ पर यह अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है कि नाट्य के अन्तर्गत नायिकाओं द्वारा रङ्गमञ्च पर वास्तविक रूप से भावों का प्रकटीकरण क्या कोई सहज प्रक्रिया है? क्योंकि भाव-सम्प्रेषणीयता एक अत्यन्त कठिन तथा दुःसाध्य कार्य है। इसका कारण यह है कि नायक तथा नायिका द्वारा रङ्गमञ्च पर जो प्रेम प्रदर्शित किया जाता है, वह प्रेम उनका सहज रूप में वास्तविक प्रेम-प्रदर्शन न होकर सुमनस् सामाजिकों के समक्ष मात्र रङ्गमञ्चीय दृष्टिकोण से किया गया उन भावों का निदर्शन या सम्प्रेषण होता है। ऐसे कृत्रिम भावों के सम्प्रेषण-हेतु नायक अथवा नायिका दोनों का नितान्त संवेदनशील होना अत्यावश्यक है। भरत अथवा परवर्ती आचार्यों की अलङ्कार की परिकल्पनाएँ यथार्थ के ठोस धरातल पर टिकी हैं, क्योंकि उन्होंने लोक-जीवन अथवा मानव की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के आधार पर भावों के उदात्त प्रकटीकरण की कल्पना की है। कवि द्वारा निबद्ध काव्य में नायक और नायिका दोनों के भावों की अभिव्यक्ति कवि स्वयं करता है। उन भावों को कवि स्वयं अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के आधार पर अथवा यथार्थ जीवन के आधार पर प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है। ऐसी स्थिति में जो भाव कवि द्वारा नाट्य में निबद्ध किए जाते हैं वे सामान्य रूप से तो सुमनस् सामाजिकों के हृदय में भी विद्यमान होते हैं, किन्तु प्रत्येक सुमनस् सामाजिक कवि द्वारा निबद्ध भावों से

सहमत हो ऐसा सम्भव नहीं । इसका प्रमुख कारण यह है कि अलंकार को सत्त्व से उत्पन्न माना गया है । सत्त्व तो निर्विकार होता है । वास्तविक रूप से जब नायक तथा नायिका का प्रथम मिलन होता है, तभी सत्त्व में विकार उत्पन्न होने की सम्भावना है । नायक अथवा नायिका, जो रंगमंच पर अभिनय कर रहे हैं, उनके हृदय में पूर्व रूप से तो सत्त्व विद्यमान है, किन्तु नाट्य में उस विकार का प्रकटीकरण क्या वास्तविक रूप से वे अभिनय के साथ प्रकट कर सकते हैं ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है । इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि नाट्य में ऐसे संवेदनशील, भावनाप्रधान तथा काव्य की आत्मा को आत्मसात् करने वाले व्यक्तियों का ही पात्र-रूप में चयन करना चाहिए, जो काव्य की सात्त्विक धारा से जुड़ सकें । भरतप्रणीत नायिकाओं का अलङ्कार-विधान वस्तुत: एक गूढ एवं दार्शनिकता पर आधारित विषय है, जो मानव मन की आन्तरिक अनुभूतियों के उद्वेलन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विभिन्न भावों का संकलन है । भरत नाट्य में यथार्थ रूप से ऐसे उदात्त भावों के सम्प्रेषण की परिकल्पना करते हैं, जो वास्तव में निर्विकार सत्त्व से उत्पन्न होकर शृङ्गार की उत्कृष्टता को सिद्ध कर सके । अतएव अलङ्कार भावों के यथार्थ प्रकटीकरण से जुड़ा हुआ है, जो नाट्य में नायक तथा नायिका की शाृङ्गारिक चेष्टाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है । वस्तुत: रंगमंचीय दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है । नायक अथवा नायिका द्वारा प्रणय व्यापारों के प्रदर्शन के द्वारा सात्त्विक भावों का समुचित विकास हो पाए, इसमें सन्देह है । हम इस

विचारधारा से सहमत नहीं है कि ऋषि भरत ने जो सात्त्विक विकार उत्पन्न होने की व्याख्या की है, उसी के अनुरूप नायक अथवा नायिका रंगमंच पर सात्त्विक विकार प्रस्तुत कर सकेगी। नाटकीय दृष्टि से तो उसे प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक दृष्टि से उसका प्रदर्शन संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि सात्त्विक विकार प्रकृतिस्थ हैं और प्रकृतिस्थ भावों का अनुकरण करना क्या सम्भव है ? फिर भी हम यह कह सकते हैं कि नाट्य-दर्शन के समय सुमनस् सामाजिक इन आलङ्कारिक भावों से किसी न किसी प्रकार से सामंजस्य तो स्थापित कर ही लेता है।

॥ "अध्याय - 6" ॥

आधुनिक संस्कृत-रूपकों में स्त्रीपात्र

भूमिका

संस्कृत-नाटकों की विकास-परम्परा 10वीं शताब्दी तक प्रायः समाप्त हो जाती है । इसके पश्चात् संस्कृत-नाटकों की अवनति का काल प्रारम्भ हो जाता है । वस्तुतः प्राचीन संस्कृत-नाटकों की अवनति देश की परिवर्तित सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप ही हुई । प्रो0 कीथ संस्कृत-नाटकों के ह्रास के तीन प्रमुख कारण मानते हैं । प्रथमतः - प्राचीन कवि प्रायः केवल सुमनस सामाजिकों के द्वारा अपने नाटकों के अनुमोदन या आलोचना की अपेक्षा रखते थे । सर्वसाधारण द्वारा नाट्य के शास्त्रीय पक्ष को समझने या न समझने में उनकी कोई रुचि नहीं थी । नाट्य ऐसे होते थे कि सर्वसाधारण नाट्य से उत्पन्न आनन्द मात्र को तो ले सकते थे, किन्तु उसके शास्त्रीय स्वरूप को आत्मसात् करने में असमर्थ थे । यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि तत्कालीन कवि उन्हें ही सुमनस सामाजिक मानते थे जो कि संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों, इतिहास एवं दर्शन के पूर्ण विद्वान् थे । अतएव इसी आधार पर प्रो0 कीथ ने यह कहा कि तत्कालीन रङ्गमञ्च अधिक लोकधर्मी नहीं था, इसी कारणवश कालान्तर में संस्कृत-नाटकों का ह्रास हुआ । द्वितीयतः - मुस्लिम शासन ने संस्कृत-नाट्य साहित्य के संवर्धन पर अपना अवसादकारी प्रभाव डाला । तृतीयतः - नाटक की भाषाओं तथा लोक-जीवन की भाषाओं में असमानता आती गई । पुनश्च, कालक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में नूतन परिवर्तन हुआ । हमारे देश में अंग्रेजी शासन और पाश - चात्य देशों से सम्बन्ध होने के फलस्वरूप पुनर्जागरण की लहर आई तथा इसके

कारण तीव्रता से बदलती हुई राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों ने नाटक के विकास पर अपना प्रभाव अंकित किया । यूरोपीय पुनर्जागरण एवं पाश्चात्य सभ्यता ने भारत में शिक्षा-दीक्षा की दिशा में भी प्रमुख परिवर्तन किया ।

युग परिवर्तन के साथ-साथ नायिकाओं के प्रतिमान भी बदलते गए । तात्पर्य यह है कि उसकी लौकिक तथा लोकोत्तर परिकल्पना में पर्याप्त परिवर्तन आया । पश्चिम के संसर्ग से जो पुनरुत्थान की भावना उत्पन्न हुई, उसने नारी को पूर्णरूपेण जागरूक करने की चेष्टा की । फलस्वरूप नारियों की स्थिति में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । मध्ययुगीन नारी शिक्षा की नूतन चेतनाओं से अनभिज्ञ थी तथा राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों से वंचित भी थी । धार्मिक रूढियों एवं अन्धविश्वासों में आबद्ध होने के कारण उसकी स्थिति विभाक्त थी । किन्तु पुनरुत्थान तथा नवजागरण काल ने उन्हें सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों के प्रति सचेत किया । अतएव आधुनिक काल की नारी नई चेतनाओं के प्रति जागरूक हुई । यद्यपि वह परम्पराओं में विश्वास तो रखती हैं, किन्तु रूढ़ियों से मुक्त होना चाहती है । उसमें सहिष्णुता का भाव तथा कर्तव्यपालन की इच्छा भी है, किन्तु अपने अधिकारों को प्राप्त भी करना चाहती है । पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृति के सम्मिलन के फलस्वरूप भारतीय नारी को संक्रमण-काल से गुजरना पड़ा, क्योंकि दो भिन्न राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के सम्मिश्रण से जिस नई चेतना का विकास हुआ

वह एक निःसृत अवस्था है, क्योंकि भारतीय नारी एक तरफ तो अपनी पूर्व संस्कारगत मानसिकता का बोध भी रखती है तो दूसरी ओर पाश्चात्त्य विचारों की उन्मुक्तता के प्रभाव से वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए रखना चाहती है, किन्तु पूर्ववर्ती मानसिक रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के कारणवश दबी हुई है। यद्यपि वह अपने परिवार, समाज तथा देश के प्रति समर्पण तो करती है, परन्तु इसके साथ ही साथ उसमें विद्रोही भाव भी विद्यमान है। वह उन्मुक्त अवधारणाओं को पूर्णरूपेण आत्मसात् नहीं कर पा रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्राचीन काल से आधुनिक काल तक नारी ने अपनी विकास-यात्रा में अनेक विपदाओं तथा कठिनाइयों का सामना किया है। आज की परिस्थितियों में भी उसे कठिनाइयों से पूर्णरूपेण छुटकारा नहीं मिला है। आधुनिक संस्कृत-नाटकों में नारी-पात्रों पर उपर्युक्त कारणों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आधुनिक काल के नाट्यकारों द्वारा नारी-पात्रों को एक तरफ आदर्शोन्मुख पात्र के रूप में चित्रित किया गया है, तो दूसरी ओर नारी उसकी उन्मुक्तता का भी यथार्थ चित्रण मिलता है। नारी के यथार्थ मानसिक विश्लेषण तथा उसके अन्तर्मन की अनुभूतियों का भी नाट्यकारों ने समुचित चित्रण किया है। आधुनिक संस्कृत-नाट्यकारों ने ऐसी नायिका की भी परिकल्पना की है, जिसका अपनी परम्परा, परिवार और कर्तव्य के प्रति कोई लगाव या उत्तरदायित्व की भावना नहीं है। वह आर्थिक स्वावलम्बन की ओर उन्मुख है तथा पुरुषों के सदृश ही वह भी अपने अधिकारों का उपभोग करना चाहती है। अधुनातन नाटकों में नारी-पात्रों को अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है। कारण जो

भी रहा हो, पर प्रमुख रूप से आज नायिका-प्रधान नाटकों का अभाव सा हो है तथा अत्यन्त अल्प संख्या में नारी-चरित्रों का विकास किया गया है । उसी के आधार पर हम कुछ प्रमुख आधुनिक संस्कृत-नाटकों में आए हुए स्त्री-पात्रों की भूमिका के आकलन का यत्न करेंगे -

विदग्धमाधव नाटक की नायिका राधा -

16वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रूपगोस्वामी द्वारा "विदग्धमाधव" नामक नाटक की रचना की गई । आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरणों में लिखा जाने के कारण प्रस्तुत नाटक में प्राचीन परम्पराओं और शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रति कवि रूपगोस्वामी का झुकाव अधिक है । इसमें "विदग्ध" राधा हैं और माधव के साथ उनके प्रणय-व्यापारों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है । यह नाटक सात अङ्कों में विभक्त है तथा राधा-विलास के वर्णन से ओतप्रोत है । इसमें अमूर्त पौर्णमासी का मानवीकरण किया गया है । नायिका राधा की सखियाँ माधव के प्रति उसके अनुराग को बढ़ाती हैं ।

प्रस्तुत नाटक की नायिका राधा अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी हैं । उनके मुखमण्डल तथा रूपराशि की प्रशंसा स्वयं श्रीकृष्ण भी करते हैं[1] । नायिका

1- विदग्धमाधव, 2/31, 1/32, 33, 3/26

राधा आदर्श प्रेम, त्याग, संयम, सहिष्णुता इत्यादि गुणों से परिपूर्ण चरित्र वाली हैं तथा कृष्ण के प्रेम में सदैव विरहपीड़ित रहती हैं। यद्यपि वह अत्यन्त भावुक तरुणी हैं तथापि वह लज्जावश अपने प्रेम-भाव का प्रकटीकरण सहजता से नहीं कर पाती हैं।

भरतसम्मत नायिका-विभाजन को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत नाटक की नायिका भरतानुसारी नहीं सिद्ध की जा सकती, क्योंकि उनके द्वारा किए गए वर्गीकरण के अन्तर्गत आने वाली नायिकाओं को शास्त्रीय-समीक्षा के अनुसार नायिका राधा किसी भी वर्गीकरण के अन्तर्गत नहीं आती हैं। इसके विपरीत परवर्ती आचार्यों द्वारा किए गए वर्गीकरण के अनुसार राधा स्वकीया नायिका हैं, क्योंकि राधा के चरित्र में सच्चरित्रता, पवित्रता आदि गुण पूर्णतः समाहित है। स्वकीया नायिका के उपभेद के अनुसार राधा को मुग्धा नायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। राधा शीलवती[1] एवं लज्जावती भी हैं, इसकी पुष्टि इस कथन से होती है - राधा- (लजाती हुई) ललिते! मैं कुछ कह नहीं सकती हूँ, कदम्ब वृक्ष से अचानक किसी एक ध्वनि ने मेरे कानों में प्रवेश कर लिया है। हाय! उससे मैं आज एक ऐसी विचित्र अवस्था को प्राप्त हो गई हूँ, जो कुलीन स्त्रियों के लिए निन्दीय है।"[2] प्रकृतिगत आधार पर भी नायिका राधा उत्तम प्रकृति की नायिका है। कामगत अवस्थाओं के अनुसार

1- विदग्धमाधव,2/14

2- वही 1/34

विरहोत्कण्ठिता नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हैं। अन्ततोगत्वा जब नायक से मिलन हो जाता है, तो उसे स्वाधीनभर्तृका भी कहा जा सकता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि रूपगोस्वामी पर भरत के परवर्ती शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

नायिका राधा का अलङ्कारों के आधार पर भी मूल्याङ्कन किया जा सकता है। प्रथम अङ्क में राधा के हृदय में कृष्ण के प्रति भाव नामक अलङ्कार उत्पन्न हो गया है। इसकी पुष्टि पौर्णमासी से कहे गए नन्दमुखी के कथन से होती है -- नन्दमुखी -"यदा कथाप्रसङ्गे एषा कृष्णेति नाम श्रणोति, तदा रोमाञ्चिता कमपि भावं विन्दति।"[1] इसी अङ्क में राधा में हाव और हेला भाव भी उत्पन्न हुए हैं। जब श्री कृष्ण कहते हैं कि "राधा का विचित्र रूप कैसा अनिर्वचनीय विलासपूर्ण है",[2] तो इस कथन के माध्यम से भाव की तीव्रता की चरम परिणति हेला के रूप में प्रस्फुटित होती है। नायिका राधा में दो स्वभावज अलङ्कार और तीन अयत्नज अलङ्कार भी चित्रित हुए हैं। स्वभावज अलङ्कार के अन्तर्गत विलास नामक अलङ्कार का प्रस्तुत नाटक में अत्यन्त विकसित और उत्कृष्ट रूप में निदर्शन होता है, क्योंकि राधा के बैठने, चलने, हाथ, नेत्रों तथा भौंहों की चेष्टाओं पर श्री कृष्ण की उपस्थिति में विलक्षण प्रभाव अंकित हुआ है।[3] नायक श्री कृष्ण के प्रति राधा का आकर्षण अत्यन्त तीव्र होने पर

1- विदग्धमाधवम्, प्रथम अङ्क।

2- वही, 1/32

3- वही, द्रष्टव्य 2/29,31,51, 6/14

भी वह उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाती तथा मानिनी नायिका के रूप में कैसी से भी मान करती है मन ही मन श्री कृष्ण के प्रति अतिशय प्रेमाकर्षण का अनुभव करती हुई कहती हैं - "(स्वगत) अहो जिस (कृष्ण) का नाम ही सुन्दरियों के चित्त को इस प्रकार विमोहित करने वाला है, न जाने वह स्वयं कितना सुन्दर होगा ? (भाव को छिपाते हुए स्पष्ट कहती हैं) - ललिते ! चलो निकुन्जों में लगे समस्त गुच्छ फलों का चयन करूँगी।"[1] प्रस्तुत स्थल पर बिब्बोक नामक अलङ्कार स्पष्ट रूप से दर्शनीय है । इस प्रकार प्रस्तुत नाटक में विलास और बिब्बोक नामक दोनों अलङ्कारों का अत्यन्त कुशलता से समावेश हुआ है ।

नायिका राधा में तीन अयत्नज अलङ्कारों का भी उत्कृष्ट रूप से समावेश हुआ है । प्रथम अङ्क में ही नायिका राधा के नेत्र, रूप, यौवन इत्यादि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है । राधा की सखियों तथा श्री कृष्ण द्वारा राधा के शोभा नामक अलङ्कार का वर्णन हुआ है ।[2] नायिका राधा में शोभा का अतिशय विस्तार होने के फलस्वरूप कान्ति अलङ्कार भी कई स्थलों पर स्पष्टतया परिलक्षित होता है, इसकी पुष्टि नायक श्री कृष्ण के कथनों से होती है ।[3] प्रस्तुत नाटक के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि नायिका राधा में औदार्य नामक अलङ्कार भी उत्कृष्ट रूप में वर्णित हुआ है, क्योंकि नाटक के प्रत्येक सम अथवा

1- विदग्धमाधवम्, प्रथम अङ्क ।

2- वही, 1/32,33, 3/39

3- वही, 2/26, 3/26 तथा 50

विषम परिस्थितियों में भी नायिका राधा अपने धैर्ययुक्त व्यवहार से सुमनस्
सामाजिकों का हृदय आकर्षित करने में सक्षम हुई है ।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के आरम्भिक चरणों में लिखा जाने वाला विदग्धमाधव नाटक शास्त्रीय नियमों के अनुकूल सिद्ध होता है, किन्तु फिर भी प्रस्तुत नाटक नायिकाओं के विभाजन तथा नायिकाओं के अलङ्कारों के परिप्रेक्ष्य में उतना उत्कृष्ट नहीं सिद्ध किया जा सकता, जितना कि प्राचीन परम्परा में लिखे गए नाटक, जिनमें शास्त्रीय अनुशासन उत्कृष्ट रूप से विद्यमान है । अतएव इसे संक्रमणकालीन नाट्य की संज्ञा दी जा सकती है ।

ययातिदेवयानीचरित नाटक की नायिका देवयानी -

19वीं शताब्दी के आरम्भ में वल्ली सहाय द्वारा रचित "ययाति-देवयानी-चरित" एवं "ययाति-तरुणानन्द" नामक दो नाटक हैं । ययाति-दवयानी-चरित प्राचीन प्रख्यात चरित्रों से जुड़ा है । प्रस्तुत नाटक में देवयानी और शर्मिष्ठा के पारस्परिक कलह तथा शाप जैसे रूढ़िग्रस्त विचारों का पोषण हुआ है । नाटक में शर्मिष्ठा की विरहावस्था, चित्रदर्शन, प्रधान महिषी देवयानी द्वारा शर्मिष्ठा पर प्रतिबन्ध इत्यादि भाव प्राचीन नाटकों की तरह ही विकसित हुए हैं, किन्तु कवि वल्ली सहाय ने अत्यन्त चतुरता एवं सरसता के साथ इनको चित्रित करते हुए आधुनिक स्वरूप प्रदान किया है, क्योंकि प्राचीन कथानकों में

1- विदग्धमाधवम्, 2/14 तथा अन्य कई स्थल ।

विकसित देवयानी - चरित्र की अपेक्षा इस आधुनिक देवयानी-चरित्र में वह अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग प्रतीत होती है । राजा के द्वारा शर्मिष्ठा से विवाह किए जाने पर वह राजा को किसी प्रकार से क्षमा न कर सकी और राजा को खरी खोटी सुनाने मे उसने कोई संकोच नहीं किया है । प्रस्तुत नाटक में नायिका देवयानी के रूप को प्रकृति से भी सम्बन्धित करने की चेष्टा की गई है ।[1]

कवि वल्ली सहाय के ही ययाति तरुणानन्द नाटक में इससे उत्तरवर्ती कथा का विस्तार हुआ है । इस नाटक में भी नारी के असहिष्णु स्वभाव का चित्रण किया गया है तथा सपत्नियों के कलह से सुख-शान्ति के बाधित होने का भी रोचक वर्णन किया गया है । प्रस्तुत नाटक में देवयानी और शर्मिष्ठा के सौन्दर्य वर्णन का काव्यात्मक चित्रण किया गया है जो नाटकीयता से परे लगता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत दोनों नाटक यद्यपि नायिकाओं की प्रगतिशील अवस्था की अभिव्यक्ति तो करते हैं, किन्तु प्राचीन परम्पराओं से जुड़े हुए हैं, क्योंकि इसका कथानक भास, कालिदास, शूद्रक इत्यादि प्राचीन

1- प्रसन्नपङ्केरुहचारुवक्त्रा पुंस्कोकिलारावशुभानुलापा ।

मन्दानिला कंपिलताभुजाग्रा त्वामाह्वयत्यत्र वसन्तलक्ष्मीः ।।

- ययाति-देवयानी चरित ।

प्रसिद्ध नाट्यकारों की ही भाँति इतिहासपरक है । फिर भी दोनों नाटक में नायिकाओं के चरित्र का विकास वर्तमान सामाजिक परिवर्तनों के अनुरूप ही परिलक्षित होता है ।

प्रतापविजयम् नाटक की नायिका राजपुत्री -

श्रीमूलशङ्करमाणिक्यलालयाज्ञिक द्वारा रचित नाटक "प्रतापविजय" आधुनिक परम्परा में ऐतिहासिक लक्षणों से युक्त एक उत्कृष्ट नाटक है, किन्तु प्रमुखतः महाराणा प्रताप के ऐतिहासिक चरित्र को निरूपित करने के कारण इसमें नायिका का चरित्र गौण रूप से प्रतिष्ठित हुआ है ।

प्रस्तुत नाटक में नायिका राजपुत्री, जो पृथ्वीराज की भगिनी है, स्वकीया नायिका के रूप में प्रतिष्ठित है । वह नायक युवराज से अत्यन्त प्रेम करती है तथा उसके प्रति पूर्णरूपेण समर्पित है । पवित्र आचरण और शीलयुक्त राजपुत्री स्वकीया के भेद मुग्धा के रूप में व्याख्यात हुई है । स्वयं युवराज के कथन से इन उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि होती है ।[1]

आचरण और कुल से राजपुत्री उत्तम प्रकृति की नायिका है । युवराज उसकी मरणासन्न अवस्था में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहता है कि " हे

1- युवराज- एकान्ततो मत्प्रणयाकुलां कथं, सन्तर्जयेऽहं कुलधर्मनिष्ठया ।
मनः कृशाङ्गया बिसतन्तुकोमलं, सहिष्यते नैव निषेधरोक्ष्यम् ।।

-प्रताप विजयम् 5/6 तथा 5/15.

उत्तम व्रत वाली । पवित्र आचरण तथा गुणसमूह की सम्पदा से सूर्य वंश के प्रति निश्छल प्रेम-बन्धन के कारण, हे पुण्यात्मा । तुमने पतिलोक पर सनातन विजय को प्राप्त कर लिया है ।"[1]

नायिका की कामगत अवस्थाओं के आठ भेदों में से प्रस्तुत नाटक में अभिसारिका, विरहोत्कण्ठिता तथा स्वाधीनभर्तृका के रूप में नायिका राजपुत्री को प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अङ्क में नायिका के कथन से उसके अभिसरण की सूचना मिलती है ।[2] नाटक के सप्तम अङ्क में युवराज के कथन के माध्यम से कवि ने नायिका के विरहोत्कण्ठिता होने का स्पष्ट प्रमाण दिया है । नायिका राजपुत्री युवराज के प्रेम में अत्यन्त भाव-विह्वल होकर विरह-वेदना से ग्रसित है ।[3] प्रस्तुत नाटक में नायिका स्वाधीनभर्तृका के रूप में प्रतिष्ठित है । यद्यपि नायिका आत्मोत्सर्ग कर लेती है, तथापि नायक युवराज द्वारा यह कहना कि नायिका को स्वर्ग में पतिलोक प्राप्त हो, इस कथन की पुष्टि करता है कि अन्ततोगत्वा युवराज ने राजपुत्री को अपने हृदय से पत्नी के सदृश स्वीकार कर लिया है ।[4] नाट्य के कथानक के अनुसार युवराज अत्यन्त कठिन राजनैतिक

1- प्रतापविजयम्, 7/14.

2- (ऊर्ध्वं विलोक्य स्वगतम्) जातः खलु संकेतसमयः ।

-प्रतापविजयम्, पञ्चम अङ्क, पृष्ठ 83

3- कुमारः - (दूरं विलोक्य) का नु खल्वेषाऽस्वस्थशरीरा पर्यङ्कमधिशयाना सखीभिरुपचर्यते । (उपसृत्य) हा कष्टं निर्घृणेन मया दुरवस्थामापादितेयं सा राजकन्यका । ....।

-प्रतापविजयम्, सप्तम अङ्क ।

4- प्रतापविजयम्, 7/14

परिस्थितियों में है । उसे युद्ध के कारण अनवरत रूप से जंगल में रहना पड़ता है । ऐसी विषम परिस्थितियों में कवि याज्ञिक ने नायिका का नायक से मानसिक स्तर पर मिलन करा कर सम्भवतः सामाजिकों को उत्कृष्ट प्रेम का सन्देश दिया है । वास्तव में जब नायक द्वारा नायिका को हृदय से स्वीकार कर लिया जाता है, तो शास्त्रीय नियमानुसार उसे स्वाधीनभर्तृका कहा जाता है । इसी आधार पर नायिका राजपुत्री को स्वाधीनभर्तृका कहा जा सकता है ।

प्रस्तुत नाटक अलङ्कार के आधार पर भी एक उत्कृष्ट नाटक कहा जा सकता है । कवि ने नायक युवराज को ऐसी विषम परिस्थितियों से बँधा हुआ चित्रित किया है कि उसे कान्ता-प्रेम की अपेक्षा मातृभूमि की रक्षा हेतु शत्रुओं से युद्ध करना पड़ता है, किन्तु फिर भी उसके उद्देश्यों के प्रति सदैव सजग तथा उसकी उद्देश्य प्राप्ति में सहायता करने हेतु सदैव तत्पर नायिका राजपुत्री के हृदय में भी नायक युवराज के प्रति भावों का उद्वेलन होता है । प्रस्तुत नाटक के चतुर्थ अङ्क में जब नायिका युवराज को देखती है, तब मन ही मन उसके हृदय में भाव जन्म ले लेता है ।[1] पञ्चम अङ्क में भाव के पश्चात् हाव का उत्पन्न होना प्रदर्शित किया गया है । नायिका राजपुत्री नायक के मुखावलोकन से

1- राजपुत्री- (युवराजं वीक्ष्य स्वगतम्) अहो । नु खलु -

उपनतनवयौवनाभिरामः स्मितवदनः कमनीयकुन्तलोऽयम् ।
कमपि मधुरदर्शनः कुमारो, जनयति मे शुचिमनसे विकारम् ।।

-प्रतापविजयम्, 4/17

आनन्दित होकर उसके प्रति पूर्ण समर्पित होने की प्रतिज्ञा करती है, जो उसमें हाव की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है।[1] इस नाटक के सप्तम अङ्क में कवि ने हेला भाव का उत्कृष्ट विकास दर्शाया है। नायिका राजपुत्री नायक के प्रेम में भावविह्वल होकर लम्बी साँसे लेकर अपने इस भाव को सहचरी से स्वयं प्रकट करती है।[2] कवि ने स्वभावज और अयत्नज अलङ्कारों का अत्यन्त अल्प प्रयोग किया है। स्वभावज अलङ्कार के अन्तर्गत नायिका में कुट्टमित अलङ्कार सप्तम अङ्क में प्राप्त होता है। जब नायिका विरह से उत्कण्ठित होकर रुग्ण है तब नायक द्वारा स्पर्श होने पर नायिका को असीम आनन्द की प्राप्ति होती है।[3] अतः यहाँ कुट्टमित अलङ्कार है। इस नाटक में अयत्नज अलङ्कार में शोभा और धैर्य नामक अलङ्कार का वर्णन किया गया है। चतुर्थ अङ्क में राजपुत्री की शोभा का वर्णन युवराज करता है।[4] ज्ञातव्य है कि प्रस्तुत नाटक में नायक युवराज अत्यन्त विषम परिस्थितियों में है। ऐसी स्थिति में कवि ने नायिका राजपुत्री में धैर्य नामकअलङ्कार की उत्कृष्ट व्याख्या की है और अन्ततोगत्वा

1- प्रतापविजयम्, 5/15

2- राजपुत्री - {निःश्वस्य} हला, अनभिज्ञासि खलु मदनविकाराणाम्। कुसुम-सायकस्यैवेदमपराद्धं नाम यदनेनानुचितप्रार्थनाप्रवणानि क्रियन्ते मुग्धाङ्गनानां मनांसि।

-प्रतापविजयम्, सप्तम अङ्क।

3- राजपुत्री- {स्वगतम्} अहो! मे सौभाग्यम्। प्रियतमकरतलस्पर्शेन नूनमाप्यायितास्मि।

-प्रतापविजयम्, सप्तम अङ्क।

4- प्रतापविजयम्, 4/19

वह नायक के लिए अपना प्राणोत्सर्ग भी कर देती है, जिससे कि युवराज को अपनी उद्देश्यपूर्ति में सफलता मिल सके । पञ्चम अङ्क में जब नायक उससे अपने पिता की अनुमति के अभाव में विवाह करने में असमर्थता व्यक्त करता है, तब भी वह अत्यन्त धैर्यपूर्वक युवराज के उस व्यवहार से पूर्ण सन्तोष का अनुभव करती है,[1] जो नायिका में धैर्य नामक अलङ्कार उत्पन्न करता है । अन्त में हम यह कह सकते हैं कि प्रतापविजयम् नाटक आलङ्कारिक दृष्टि से उत्तम नाटक कहा जा सकता है, क्योंकि हाव भाव और हेला का क्रमिक विकास होते हुए अलङ्कार का उत्कृष्ट स्वरूप इस नाटक में मिलता है । यद्यपि स्वभावज और अयत्नज अलङ्कारों की कमी है, किन्तु कथानक की आवश्यकता के अनुरूप स्वभावज और अयत्नज अलङ्कारों का आधिक्य होना उचित नहीं था । इसीलिए आलङ्कारिक दृष्टि से यह एक सफल आधुनिक नाटक माना जा सकता है ।

अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक में नायिका राजपुत्री के त्याग, बलिदान और एकनिष्ठ प्रेम का अनूठा संगम मिलता है । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक क्रम में लिखे जाने वाले इस नाटक में यद्यपि शास्त्रीय

1- तृतीया- (साक्षेपम्) धर्मवीर । परं प्रीणयति मां तव धर्मानुरागः । अतः परं महाराजस्याज्ञा कृतार्थनां नेतुं प्रयतिष्ये ।

तथा

तृतीया - (साकष्टम्भम्) न कदापि प्रार्थितफलाधिगमं प्रति मन्दोत्साहा भवन्ति क्षत्राङ्गनाः ।

-प्रतापविजयम्, पञ्चम अङ्क ।

टिप्पणी -ध्यातव्य है कि तृतीया सम्बोधक राजपुत्री के लिए हुआ है ।

नियम और नियामकों का पूर्णरूपेण आरोपण नहीं किया जा सकता, किन्तु जहाँ तक सम्भव है कदाचित् कवि श्रीमूलशङ्करमाणिक्यलालयाज्ञिक ने शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का एक अभिनव प्रयोग किया है ।

भारतविजय नाटक की नायिका भारत-माता -

"भारतविजय" नाटक सन् 1937 में मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा लिखा गया एक इतिहास-परक नाटक है । प्रस्तुत नाटक में भारत-माता का मानवीकरण किया गया है । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व अंग्रेजों ने किस प्रकार से भारतीय व्यापार और भारतीय स्वतन्त्रता पर अधिकार करने की कुचेष्टा की, इसकी अत्यन्त मार्मिक व्याख्या कवि ने की है तथा भविष्यद्रष्टा पंडित मथुराप्रसाद दीक्षित ने अहिंसा की प्रतिमूर्ति महात्मा गाँधी के नेतृत्व में भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्ति की घोषणा की, जो पूर्णतः सत्य निकली तथा सन् 1947 में भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता मिली । स्वतन्त्रता समर्थक इस नाटक को अंग्रेजी शासन द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया गया था, किन्तु स्वतन्त्रता की प्राप्ति के पश्चात् यह नाटक प्रकाशित हो गया । प्रस्तुत नाटक में दो प्रमुख स्त्री-पात्रों की भूमिकाओं का उल्लेख मिलता है, प्रथमतः - भारत-माता और द्वितीयतः - झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई ।

भारत-माता इस नाटकी की प्रमुख स्त्री-पात्र है तथा नाटक की नायिका भी । झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई सहनायिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई

हैं । इस नाटक में स्त्री-पात्रों की समीक्षा में भरत के मत और परवर्ती आचार्यों के मत नहीं स्थापित किए जा सकते, क्योंकि कथानक की ऐतिहासिकता को दृष्टिगत रखते हुए कवि मथुराप्रसाद दीक्षित ने भारत-माता का जो मानवीकरण किया है वह इन शास्त्रीय नियमों से अलग उच्च मूल्यों की स्थापना करता है । इस नाटक के प्रारम्भ में अंग्रेजों की कूटनीति, धोखाधड़ी, भारतीय राजाओं तथा जनता अधिकारों के शोषण का यथार्थ चित्रण मिलता है । इसमें भारत-माता पर किए जा रहे अत्याचारों की तीखी प्रतिक्रिया चित्रित है तथा भारत-माता अपने आपको अत्यन्त दुःखद अवस्था में पाती हैं,[1] किन्तु कवि ने एक सत्यान्वेषक एवं भविष्य द्रष्टा के रूप में भारत-माता के माध्यम से यह सन्देश देने की चेष्टा की है कि भविष्य में उनके महान् पुत्रों द्वारा उनका उद्धार किया जाता है । इस सत्य को वास्तविक रूप भारत की स्वतन्त्रता के रूप में सन् 1947 में प्राप्त होता है, किन्तु दस वर्ष पूर्व लिखे गए इस नाटक में भारत-माता के सुपुत्रों ने विजय श्री दिलवाई, यह कवि की एक अनूठी कल्पना ही थी ।

1- भारत माता- मांधाता भरतः पुरूर्यदुपती रन्तिः क्व भीमार्जुनौ,

भीष्मद्रोणभगीरथप्रभृतयो हा हा क्व कर्णः कृपः ।

एते मे तनयाः सुखं दिविषदः पश्यन्तु मां दुःखिनीं,

केयं दीनदशा दयाविरहितैर्दुष्टैः परिप्राप्यते ।।

-भारतविजय, 1/4

प्रस्तुत नाटक में भारत-माता अपने सुपुत्रों से अत्यन्त प्रेम करती हैं, इसी लिए तो वे भारत पर अंग्रेजों के आधिपत्य के लिए केवल स्वयं को उत्तरदायी मानते हुए अपने पुत्रों के दुःख से अत्यन्त दुःखी होती हैं।[1] इसके साथ ही साथ इस नाटक में वे निश्छल प्रेम की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित की गई हैं तथा अपने पुत्रों को किसी भी संकट में नहीं पड़ने देना चाहती हैं।[2] परन्तु फिर भी वे अपने बन्धन की कठोरता से अत्यन्त दुःखी हैं,[3] जिसको तोड़कर भारतवासियों ने उन्हें स्वतन्त्र कराया।

भारतविजय नाटक में सहनायिका के रूप में झाँसी की रानी के शौर्य एवं पराक्रम का चित्रण है।[4] 1857 की क्रान्ति में झाँसी की रानी की गौरव-गाथा इस नाटक में प्राप्त होती है। अन्ततोगत्वा वे भारत-माता को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देती हैं।[5]

अस्तु, प्रस्तुत नाटक भारत के स्वतन्त्रता प्रेमियों की गौरव-गाथा को स्पष्ट रूप से व्याख्यात करता है। इसका कथानक भारत के ऐतिहासिक सत्य

1- भारत विजय 1/12

2- भारतविजय, तृतीय अङ्क, 9वें श्लोक के पश्चात् भारत-माता का कथन।

3- भारत विजय 3/3

4- वही, पञ्चम अङ्क

5- वही, 5/13

से जुड़ा हुआ है । कवि मथुराप्रसाद दीक्षित को भविष्यद्रष्टा कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि उन्होंने दस वर्ष पूर्व ही भारत-माता की स्वतन्त्रता की परिकल्पना की थी, जो पर्याप्त अन्तराल के पश्चात् साकार हुई ।

प्रस्तुत नाटक भरत तथा परवर्ती आचार्यों द्वारा सम्मत शास्त्रीय नियमों के अनुरूप समालोचना की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि इन आचार्यों ने संस्कृत-नाटकों की परम्परा को श्रृङ्गार-रस का प्रश्रय देते हुए ही विकसित किया है तथा इसी आधार पर शास्त्रीय नियमों का प्रतिपादन किया है । इस नाटक में श्रृङ्गार-रस का अभाव है । इसी कारणवश इसमें नायिकाओं के अलङ्कार भी अत्यन्त अल्प हैं । ऐसा स्पष्ट होता है कि आधुनिक परम्परा में लिखा जाने वाला यह नाटक संस्कृत-नाटकों में एक विशिष्ट स्थान रखता है, इसमें उच्च आदर्शात्मक मूल्यों की स्थापना-हेतु कवि का एक अभिनव प्रयत्न इस तथ्य का द्योतक है । अस्तु, हम कह सकते हैं कि संस्कृत-नाटकों की जो उच्च आदर्शात्मक मूल्यों की स्थापना की जो परम्परा रही है, उन मूल्यों की स्थापना के दृष्टिकोण से भी यह नाटक अत्यन्त मूल्यवान् है, क्योंकि यह नाटक अत्यन्त उदात्त और महान आदर्शों का पुष्पन-पल्लवन करता है ।

भक्तसुदर्शन नाटक की नायिका शशिकला

मथुराप्रसाद दीक्षित द्वारा रचित एक अन्य नाटक "भक्तसुदर्शन" भी एक उत्कृष्ट रचना है । प्रस्तुत नाटक में श्रृङ्गार-रस वीर रस का अङ्ग रूप ही है।

अतएव इस नाटक में नायिकाओं के अलङ्कारों का अत्यन्त अल्प मात्रा में समावेश हुआ है। तथापि इस नाटक की रचना-प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की है कि वीर रस की प्रधानता होने पर भी कवि ने श्रृङ्गार-रस की भी चर्वणा कराई है। इस नाटक में प्रमुखतया तीन स्त्री-पात्रों का चरित्र विकसित हुआ है, नायिका शशिकला, नायक सुदर्शन की माता तथा विमाता।

प्रस्तुत नाटक में नायिका शशिकला का चरित्र विशिष्ट है। वह स्वकीया नायिका है, क्योंकि वह हृदय से नायक सुदर्शन का वरण कर चुकी है तथा किसी दूसरे वर को देखना भी नहीं चाहती।[1] वह लज्जा इत्यादि गुणों से परिपूर्ण है।[2] आचरणानुसार वह श्रेष्ठ प्रकृति की है तथा काशी नरेश की पुत्री होने के कारण उच्च कुल से सम्बन्ध रखती है। कामगत अवस्थाओं के अनुसार वह विरहोत्कण्ठिता तथा स्वाधीनभर्तृका नायिका के रूप में प्रतिष्ठित हुई है।[3] नाटक में नायक सुदर्शन से उसका विवाह तथा मिलन हो जाता है जो उसके स्वाधीनभर्तृका रूप को सिद्ध करता है।

1- शशिकला - नाहं स्वयंवरे गमिष्यामि, यो वृतः स वृत एव।

तथा

शशिकला - स्वप्ने सुदर्शनो वृत एवेति नाहं पुनर्वरणार्थमन्यं निरीक्षिष्ये।

- भक्तसुदर्शन नाटक, चतुर्थ अङ्क।

2- शशिकला - सखि! स किम् इह आगमनं स्वीकारिष्यति नवेत्युद्विजते मे चेतः। लज्जया च न मे मन उत्सहते। -भक्तसुदर्शन नाटक, तृतीय अङ्क।

3- भक्तसुदर्शन नाटक, 3/12

नायिकाओं के अलङ्कार की दृष्टि से नायिका में देवी की कृपा से स्वप्न में नायक सुदर्शन का दर्शन होने पर भाव नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है।[1] तत्काल जब वह जाग्रत अवस्था में होती है, तब उसके अनुरागातिशय का वर्णन है, जिससे हाव नामक अलङ्कार स्पष्ट हुआ है।[2] तदनन्तर एक ब्राह्मण के द्वारा नायक के अलौकिक सौन्दर्य का वर्णन सुनकर नायिका में हेला नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है।[3] इस प्रकार से कवि ने भाव से लेकर हाव नामक अलङ्कार तक के एक क्रमिक विकास का अत्यन्त कुशलता से चित्रण किया है। स्वभावज और अयत्नज अलङ्कारों का अत्यन्त अल्प प्रयोग हुआ है, (सम्पूर्ण नाटक में मात्र "विहृत अलङ्कार" ही दृष्टिगत होता है) जिसका मूल्याङ्कन करना कदाचित् संगत नहीं है।

इस प्रकार भक्तसुदर्शन नाटक किञ्चित् भरत तथा किञ्चित् परवर्ती आचार्यों के शास्त्रीय नियमों के आधार पर लिखा जाने वाला एक रोचक नाटक है। यद्यपि इस नाटक पर शास्त्रीय नियमों का पूर्णरूपेण आरोपण नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत नाटक ऐतिहासिक परम्परा में लिखा जाने वाला एक एक अच्छा नाटक है।

1- भक्तसुदर्शन नाटक, तृतीय अङ्क

2- शशिकला-सखि। पश्य तत्स्मृतया सर्वमपि मे शरीरं स्वेदक्लिन्नमेव संजातम्। ------------। - भक्तसुदर्शन नाटक, तृतीय अङ्क।

3- शशिकला-(स्मित्वा)आम्। सखि। अतः परमधिकतरं कन्दर्पो मां बाधते।
-भक्तसुदर्शन नाटक, तृतीय अङ्क

उपर्युक्त नाटकों की शास्त्रीय समीक्षा के अन्तर्गत हमने देखा कि आधुनिक परम्परा में लिखे जाने वाले संस्कृत-नाटक अधिकांशतः प्राचीन शास्त्रीय परम्पराओं का समुचित पालन नहीं करते । यद्यपि आधुनिक नाट्य-कृतियों में कुछ विकासशील परम्परा का अनुकरण किया गया है, तथापि वे सभी नाटक प्राचीन नाट्य-परम्परा से अलग हट कर हैं । ऐसी विषम परिस्थितियों में प्राचीन शास्त्रीय-सिद्धान्तों के आधार पर आधुनिक नाटकों को विश्लेषित करना उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि आधुनिक नाट्यकारों ने भरत एवं परवर्ती आचार्यों के परम्परा की भावभूमि से हटकर अपनी समसामयिक परिस्थितियों के अनुसार तथा सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक स्थितियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही अपने नाटकों की सर्जना की है । ऐसी परिस्थितियों में यद्यपि नाट्य-परम्परा को तो जीवन्तता मिलती है तथा संस्कृत-नाट्य-साहित्य को गतिशीलता भी मिलती है, तथापि शास्त्रीय नियमों के अनुसार जो नाटकीय अभिव्यक्ति होती है, उसका अभाव ही इन नाटकों में परिलक्षित होता है । तात्पर्य यह है कि आधुनिक परम्परा में लिखे जाने वाले नाटकों में स्त्री-पात्रों का चयन मात्र शृङ्गार-रस का अवलम्बन लेकर ही नहीं किया गया है, वरन् उसे विभिन्न रसों का आधार देकर एक नया आयाम दिया गया है, परन्तु फिर भी वह विशृंखल ही है । अस्तु, हम कह सकते हैं कि कथानक एवं पात्र-चयन में भरत तथा परवर्ती आचार्यों की परम्परा का ह्रास होना इस तथ्य का द्योतक है कि आधुनिक नाट्यकारों ने कथानक एवं पात्र-चयन में नूतन दृष्टि का समावेश किया है । अब हम कुछ अन्य प्रमुख आधुनिक संस्कृत नाटकों की समीक्षा करने का यत्न करेंगे ।

अनारकली नाटक -

वेंकटराम राघवन् द्वारा लिखा गया "अनारकली" नाटक एक नायिका-प्रधान नाटक है, जो 1931 में लिखा गया है। यद्यपि नाट्य-शिल्प के आधार पर यह नाटक एक उत्कृष्ट नाटक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस नाटक में नाट्यकार ने पचास से अधिक पात्रों की योजना की है तथा कथानक में भी एक-रसता नहीं है। प्रस्तुत नाटक की नायिका नादिरा (अनारकली) एक ऐतिहासिक चरित्र की नायिका है, जो अकबर के पुत्र सलीम से प्रेम करती है। वह अपने सङ्गीताचार्य पुण्डरीक विट्ठल के निर्देशन में अकबर की सभा में नृत्य प्रस्तुत करती है, वहीं पर अनारकली के हृदय में सलीम के प्रति भाव उत्पन्न होता है[1] तथा नायक-नायिका दोनों ही किसी प्रकार से एक दूसरे से मिलने की चेष्टा करते हैं। राजा अकबर इसका विरोध करते हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा कवि ने सलीम और अनारकली का मिलन करवा दिया है, जो इतिहास के विपरीत की घटना प्रतीत होती है। सामान्य रूप से इतिहास की इतनी चर्चित घटना में परिवर्तन कर देने के कारणवश नाटक अपना मूल अस्तित्व ही खो देता है। नाट्य में अधिक पात्र-योजना होने के कारणवश नायिका अनारकली का चरित्र पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं नायिका एवं नायक द्वारा एकोक्ति कथन भी अधिक है, इस कारणवश भी नायिका के चरित्र को गति नहीं मिलती। यद्यपि यह नाटक पूर्णतः शास्त्रीय नियमों के अनुरूप नहीं है, तथापि

1- अनार्-(आत्मगतम्) सत्यं प्रियक एवायं मे यदि युवराजस्स्यात्।
- अनारकली चतुर्थ अङ्क।

यत्र-तत्र नायिका अनारकली में शास्त्रीय नियमोचित नायिकाओं के गुण भी विकसित हुए हैं। वह नृत्य-गीतादि में कुशल गणिका है।[1] प्रस्तुत नाटक में यत्र-तत्र अनारकली के सौन्दर्य-चित्रण में शोभा नामक अलङ्कार का विकास हुआ है। नाटक के तृतीय अङ्क में नायिका की दो सखियाँ उसकी शोभा तथा नूतन यौवन का वर्णन करती हैं।[2] नाटक के चतुर्थ अङ्क में नायक सलीम के मुख से भी कवि ने नायिका की शोभा का वर्णन कराया है।[3] इस प्रकार अनारकली प्रस्तुत नाटक में अतीव सौन्दर्यशालिनी रूप में चित्रित है। शोभा नामक अलङ्कार जब अत्यन्त विकसित हुआ है तब अनारकली में कान्ति नामक अलङ्कार उत्पन्न हुआ है।[4] प्रस्तुत नाटक में अधिकांश स्थलों पर नायिका अनारकली विरहोत्कण्ठिता रूप में चित्रित है[5] परन्तु अन्ततोगत्वा वह स्वाधीनभर्तृका रूप में प्रतिष्ठित हुई है।[6] नायिका अनारकली के चरित्र में कवि ने लज्जा एवं विवेकशीलता का भी समावेश कराया है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत-नाट्य-साहित्य में यह नाटक अत्यन्त अल्प मात्रा में शास्त्रीय नियमों का पालन करता है, जिससे यह नाटक एक उत्कृष्ट स्तर का नाटक नहीं कहा जा सकता है। यह एक सामान्य कोटि का ही नाटक है, फिर भी एक मुस्लिम स्त्री-चरित्र का चित्राङ्कन करने के कारण यह एक अनूठा नाटक है।

1- सूत्रधार--- । सा च न महिषी, किन्तु अन्तःपुरगता दासी, ततोऽपि गीतनृत्तादिविचक्षणा । - अनारकली, प्रथम अङ्क, पृष्ठ 4 ।

2- अनारकली, 3/1

3- वही, 4/6

4- वही सप्तम अङ्क, पृष्ठ 69

5- वही, सप्तम अङ्क, पृष्ठ 66, 68 तथा 70

6- वही, दशम अङ्क पृष्ठ 86

कपालकुण्डला नाटक -

"कपालकुण्डला" नाटक मूलतः बंकिमचन्द्र की लेखनी से विकसित हुआ एक कल्पित कथानक वाला नाटक है । इसका संस्कृत में अनुवाद श्री हरिचरण-विद्यारत्न ने किया है । यह अनूदित नाटक संस्कृत-साहित्य में 1936 में प्रकाश में आया । बंगला पृष्ठभूमि पर लिखा गया यह नाटक तन्त्र-मन्त्र की विचारधारा से जुड़ा हुआ है । इस नाटक की नायिका कपालकुण्डला तान्त्रिक साधना करते हुए कापालिक को सहयोग देती है, किन्तु जब वह नायक नवकुमार को देखती है तो उसके हृदय में प्रेम का बीज अंकुरित होता है । कापालिक नायक नवकुमार को भैरवी-पूजा हेतु बलि देना चाहता है, किन्तु नायिका कपालकुण्डला उसकी रक्षा करती है तथा उससे विवाह का प्रस्ताव रखती है । नायक-नायिका का मिलन नाटक के मध्य में ही हो जाता है, किन्तु सहनायिका मति (पद्मावती) नवकुमार से प्रणय-याचना करती है । नायिका कपालकुण्डला से विवाह कर चुकने के कारण नायक नवकुमार पद्मावती की प्रणय-याचना को अस्वीकार कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप सह नायिका मति (पद्मावती) कापालिक से मिलकर कपालकुण्डला को नवकुमार से अलग करना चाहती है । अन्ततोगत्वा मति और कापालिक दोनों अपने षड्यन्त्र से कपालकुण्डला के प्रति नवकुमार के हृदय में शंका का बीज बो देते हैं । अन्त में नायक को सत्य का ज्ञान होता है, किन्तु कपालकुण्डला पुनः नायक के साथ घर चलने की प्रार्थना को ठुकरा देती है और ज्यों ही नायक नवकुमार उसे पकड़ना चाहता है, वह जलमग्न हो जाती है । अन्त में नायक भी जल में कूद कर जल-समाधि ले लेता है ।

प्रस्तुत नाटक की नायिका कपालकुण्डला सन्यासिनी होते हुए भी मानवीय भावनाओं को नहीं भुला पाती है और वह नायक के प्रति आकर्षित होकर उससे विवाह कर लेती है । प्रस्तुत नाटक के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि नायिका कपालकुण्डलता को भरत अथवा परवर्ती आचार्यों के मतों के अनुसार किसी भी नायिका-विभाजन में नहीं रखा जा सकता । यद्यपि कपालकुण्डला सन्यासिनी है, फिर भी उसका प्रेम उदात्त, निश्छल एवं उत्कट है । वह नायक के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित है । यहाँ तक कि वह अन्त में अपने प्राणों का उत्सर्ग भी कर देती है । नायिका कपालकुण्डला निस्सन्देह उत्तम प्रकृति की एक श्रेष्ठ नायिका की श्रेणी में रखी जा सकती है, क्योंकि वह नायक के प्रति एकनिष्ठ एवं असीम प्रेम करती है । सामाजिक मान्यताओं के अनुसार नायिका का सन्यासी होना और पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करना, इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि बंगला पृष्ठभूमि पर लिखे गए नाटकों में तन्त्र-मन्त्र की साधनाएँ स्त्री और पुरुष दोनों ही साथ-साथ करते थे, जो एक संक्रमणकालीन स्थिति को दर्शाता है । संस्कृत-नाटकों में खलनायिका का अभाव सा है । तात्पर्य यह है कि प्रचलित शास्त्रीय नियमों में खलनायिका का कहीं नामोल्लेख भी नहीं मिलता, किन्तु इस नाटक में सहनायिका मति (पद्मावती) खलनायिका के रूप में स्वीकार की जा सकती है । उपर्युक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि 21 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में संस्कृत नाटकों पर पाश्चात्य नाट्य का प्रभाव पड़ने लगा था ।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि कपालकुण्डला एक विशिष्ट नाट्यकृति है, जो कि पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित है। यद्यपि नायक और नायिका के चरित्र को भारतीय परिवेश में विकसित किया गया है, तथापि मूलतः वे भारतीय नाट्यकला एवं शिल्प से पृथक् ही हैं।

बालविधवा नाटक -

प्रस्तुत नाटक लीलाराव द्वारा रचित है। यह नाटक भी आधुनिक परम्परा में लिखा जाने वाला समसामयिक नारी-समस्याओं से सम्बन्धित है। इस नाटक की नायिका पार्वती अत्यन्त सौन्दर्यशालिनी है, किन्तु वह वैधव्य-जीवन व्यतीत कर रही है। नायक अनूप उसके प्रति अनुरागवान् है और उससे विवाह करने के लिए मन ही मन दृढ़ निश्चय करता है। नायिका पार्वती अत्यन्त कष्टपूर्ण और सामाजिक निष्क्रियता का जीवन व्यतीत कर रही थी। जब नायक और नायिका का प्रथम मिलन होता है तो नायक नायिका को आलिङ्गनबद्ध कर लेता है। ध्यातव्य है कि संस्कृत-नाट्यों में "अङ्गलीला-विवर्जित" जैसा दिशा-निर्देश रङ्गमञ्च के लिए दिया गया है, किन्तु नाट्यप्रणयिनी लीलाराव ने यहाँ पर पाश्चात्य रीति-नीति अपनाई है, जो संस्कृत-नाट्य से जुड़े सामाजिकों तथा साधारणतया भारतीय जन-मानस को कदापि स्वीकार्य नहीं है। नायिका पार्वती अपने वैधव्य-जीवन के प्रति सदैव सजग है। वह नायक के प्रति प्रेम भी करती है परन्तु फिर भी वह इस चेतना से युक्त है कि घर छोड़कर पतित कैसे बने? परन्तु फिर भी वह अनूप के कहने पर अनूप के साथ घर से पलायन कर देती है।

धर्म के भय से कोई भी पुरोहित उन दोनों का विवाह कराने के लिए तैयार नहीं होता है । तब नायक, नायिका से न्यायालय में विवाह हेतु अनुरोध करता है, किन्तु नायिका इसे उचित नहीं मानती है और अपने घर लौट आती है, जहाँ उसे अत्यन्त प्रताड़ित किया जाता है । परिणामस्वरूप वह अन्धकार में निकल जाती है और अन्त में नाटक में ऐसा प्रदर्शित किया गया है कि नायक अनूप अन्धकार में नायिका पार्वती को पुकार रहा है ।

प्रस्तुत नाटक निस्सन्देह हमारी सामाजिक मान्यताओं पर कुठाराघात करता है । सौन्दर्यशालिनी नायिका पार्वती, जिसने अपने पति का मुख भी नहीं देखा था, वैधव्य-जीवन व्यतीत कर रही है । यह नाट्य समाज को एक नूतन सन्देश देता है कि स्त्री के प्रति निम्न सामाजिक मान्यता को बदलो । यह घोर निराशा का विषय है कि आधुनिक समाज में आज भी बाल-विधवाओं का शारीरिक एवं मानसिक शोषण किया जा रहा है तथा उन्हें समाज में प्रतिष्ठित करने की कोई चेष्टा नहीं की जाती । अन्त में नायिका का अन्धकार में विलीन हो जाना तथा नायक का अन्धकार में ही उसे पुकारना, यह सन्देश देता है कि "तमसो मा ज्योतिर्गमय" अर्थात् प्रस्तुत नाट्य इस सामाजिक चेतना को जाग्रत करता है कि बाल विधवाओं के लिए इस अन्धकार से प्रकाश की ओर संचरण करने का मार्ग तो प्रशस्त हो । प्रस्तुत नाट्य यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से उत्कृष्ट मूल्य नहीं रखता है तथापि नारी-समस्या-प्रधान सामाजिक जीवन को एक नूतन चेतना एवं सन्देश देता है । इस दृष्टि से यह नाटक एक सामाजिक-समस्या-नाटक कहा जा सकता है ।

स्वातन्त्र्यलक्ष्मी नाटक -

"स्वातन्त्र्यलक्ष्मी" नाटक श्रीराम वेलणकर के प्रमुख नाटकों में से एक है । यह नाटक आकाशवाणी दिल्ली से भी प्रसारित हो चुका है । प्रमुखतः यह एक रेडियो-रूपक ही है । आधुनिक जीवन में आकाशवाणी एवं दूरदर्शन का प्रमुख स्थान है, अतः यह नाटक अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । यद्यपि प्रस्तुत नाट्य नान्दी, प्रस्तावना एवं अन्य नाट्य-शिल्पों से युक्त है, फिर भी इसे शास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता ।

स्वातन्त्र्यलक्ष्मी की नायिका झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई हैं । इतिहास साक्षी है कि रानी लक्ष्मी बाई वीरता की प्रतिमूर्ति थीं, जिन्होंने आङ्गल साम्राज्य के सामने अपने घुटने नहीं टेके । पति की मृत्यु के उपरान्त वह स्वयं राजगद्दी पर बैठकर राज्य का संचालन करती हैं । प्रस्तुत नाट्य में समस्त ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश किया गया है तथा रानी लक्ष्मी बाई के गौरवशाली व्यक्तित्व के इतिहास को पुनरुक्त किया गया है । निस्सन्देह ही यह कथानक स्वतन्त्रता एवं देशप्रेम की भावनाओं को जाग्रत करता है ।

कुछ आधुनिक नाट्यकारों ने हिन्दी नाट्य-साहित्य की भाँति संस्कृत-नाट्य-साहित्य में एकांकी नाट्य का समावेश किया है । यहाँ पर हम इस शृंखला के एक प्रमुख नाट्यकार की एकांकी की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे ।

निर्गृहघट्टम् -

प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रवाचक डॉ० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र द्वारा रचित "चतुष्पथीयम्" नाट्य संग्रह में से लिया गया "निर्गृहघट्टम्" एक एकांकी नाट्य है, जो सन् 1980 में लिखा गया है । यह एकांकी नाट्य वर्तमान सन्दर्भों के बदलते परिवेश और अधुनातन गृहस्थजीवन की विडम्बनाओं को सहज ही प्रदर्शित करता है । निर्गृहघट्टम् का नायक गिरीश महालेखाकार कार्यालय में एक लिपिक के पद पर कार्यरत है । वह गृह में अपने पत्नी तथा कार्यालय में अपने अधीक्षक से विक्षुब्ध है । वह पत्नी द्वारा नित्यप्रति गृहकलह करने से अत्यन्त दुःखी है । इस नाटक की नायिका तथा गिरीश की पत्नी मंगला अपने पति के प्रति द्वेषभाव, प्रताड़ना, कर्कशस्वभाव तथा अभद्र शब्दावलियों का प्रयोग करती है । ऐसी विषम परिस्थिति में नायक अपने कार्यालय में कार्य करने वाली आशुलिपिक कल्पना के प्रति कोमल भावना रखने लगता है । कल्पना अत्यन्त व्यवहार कुशल और सहृदय कन्या है, जो गिरीश के प्रति सहानुभूतिपूर्ण प्रेम रखती है । नायिका मंगला को जब यह ज्ञात होता है कि उसका पति किसी कल्पना नामक युवती के प्रति आकर्षित है तो वह नायक को प्रताड़ित करती है तथा उसके अधीक्षक को भी इसकी मिथ्या सूचना दे देती है । बेचारा गिरीश अधीक्षक के द्वारा भी प्रताड़ित किया जाता है । ऐसी उद्विग्न मानसिक स्थिति में कल्पना उसे शाम को मिलने के लिए निमन्त्रित करती है, जिससे गिरीश को अत्यन्त मानसिक शान्ति मिलती है ।

प्रस्तुत नाट्य समाज की संक्रमणकालीन स्थिति को प्रदर्शित करता है । वर्तमान विधि (कानून) के अनुसार स्त्रियों को अनेक अधिकार दिए गए

है । वे अपने अधिकारों की रक्षा करने में सक्षम भी हैं । आधुनिक समाज में स्त्रियाँ अपने पति के प्रति आक्रोश प्रकट करने में सक्षम हैं । यहाँ तक कि प्रस्तुत नाटक में नायिका अपने पति को मारने-पीटने में भी संकोच नहीं करती । आधुनिक स्त्री पति के असम्मान को बढ़ाने में भी संकोच नहीं करती । गिरीश और कल्पना के सम्बन्धों को उसकी पत्नी ने अन्यथा लिया और उसे गृह तथा कार्यालय दोनों ही जगह अपमानित किया । यह स्थल इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि आधुनिक स्त्री इस बदलते परिवेश में अपने पति पर भी प्रभुत्व स्थापित करना चाहती है । पति के आदर्शात्मक मूल्यों को समाप्त करने की चेष्टा के कारण उसके भी आदर्शात्मक मूल्यों का ह्रास होना स्वाभाविक ही है । आज के पति को इतना अधिकार नहीं है कि वह अपनी पत्नी को अपने नियन्त्रण में रख सके । वर्तमान सामाजिक मूल्यों के इस आधुनिक परिवर्तन को डॉ० मिश्र ने अत्यन्त मार्मिक रूप से प्र स्तुत किया है । जब पति अपने गृह एवं बाह्य परिवेश से मानसिक रूप से असन्तुष्ट रहता है, तो वह प्रेम, अनुराग, सहानुभूति तथा किसी के मृदु-वचनों की ओर सहज ही आकर्षित हो जाता है । यह मानव-मन का प्राकृतिक स्वभाव है । वह प्रेम का अन्वेषण करके उसे प्राप्त करने की आशा करता है । हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत एकांकी समाज की उस विघटनकारी स्थिति को प्रदर्शित करता है, जिसमें आज आदर्शात्मक मूल्यों का अभाव सा हो गया है तथा मानव व्यथित होकर अपने मन में उठने वाले भावों को दूसरी ओर प्रवृत्त करके नए मूल्यों को स्थापित करने की चेष्टा करता है ।

स्त्री-पात्रों की योजना की दृष्टि से एकांकी एक सफल एकांकी है तथा कथानक की दृष्टि से वह स्त्रियों की वर्तमान सामाजिक स्थितियों का समुचित आकलन भी करती है ।

अन्य आधुनिक संस्कृत-नाटकों में स्त्रीपात्र -

उपर्युक्त व्याख्यात संस्कृत-नाटकों के अतिरिक्त अब हम कुछ अन्य आधुनिक नाटकों में आए स्त्री-पात्रों की भूमिका पर दृष्टिपात करेंगे । आधुनिक प्रगतिशील सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश में लिखे गए इन नाटकों के स्त्री-पात्र आधुनिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण पूर्णतः शास्त्रीय नियमों के अनुरूप नहीं है । अतः अब हम इस प्रकार के नाटकों का एक सामान्य विवेचन प्रस्तुत करेंगे ।

परम्परागत पौराणिक स्त्री-चरित्रों वाले आधुनिक नाटकों में प्रमुखतः सीता का चरित्र मिलता है । उन्नीसवीं शती में कस्तूरि रंगनाथ के नाटक "रघुवीर-विजय" में सीता का चरित्र उल्लिखित हुआ है । प्रस्तुत नाटक में सीता का चरित्र रामायण की सीता से किञ्चित भिन्न रूप में वर्णित है । इसमें सीता राम के दर्शन के पहले से ही राम के प्रेम में अत्यन्त क्षीणकाय हो गई हैं तथा प्रस्तुत नाटक में सीता-स्वयंवर के पहले ही सीता-हरण तथा सीता-विवाह के पहले ही अग्नि-परीक्षा वर्णित है । इसी प्रकार सुन्दरवीर-रघूद्वह के नाटक "अभिनवराघव" में सीता के चरित्र को कुछ भिन्न रूप में

उद्घाटित हुआ है । प्रस्तुत नाटक में सीता किसी अन्य व्यक्ति के गले में, जो राम का रूप धारण किए हुए है, जयमाल डालती हैं । परन्तु इसके पश्चात् चम्पकशाला में राम से मिलने पर उन दोनों का प्रणयालाप भी होता है । प्रस्तुत नाटक में रामायण की कथा से भिन्न एक नूतन स्त्री-पात्र का भी सर्जन हुआ है वह स्त्री-पात्र है - परशुराम की पुत्री पद्मावती, जो पहले जनक के शापवश शिला हो गई तथा बाद में सीता के रूप में परिवर्तित हो गई । सीता जब ऋषि शम्बूक के आश्रम में चली जाती हैं, तब राम पद्मावती के सीता रूप में परिवर्तित स्वरूप को ही वास्तविक सीता समझते हैं और उसके साथ क्रीडा-विहार करते हैं, परन्तु बाद में राम को वास्तविकता का पता चलता है और उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप होता है । अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण नाटक में स्त्री-पात्र में सीता का ही स्वरूप प्रमुखता से प्रदर्शित हुआ है ।

सीता-चरित्र-विषयक आधुनिक संस्कृत-नाटकों में "मैथिलीय" ही एक ऐसा नाटक है, जो नायिका-प्रधान है । प्रस्तुत नाटक के प्रणेता नारायण-शास्त्री हैं । इस सम्पूर्ण नाटक में सीता का चरित्र प्रायः वाल्मीकि-रामायण की सीता जैसा ही है । इसी प्रकार आधुनिक संस्कृत-नाटकों में लेखक मधुसूदन के "जानकी-परिणय", महालिङ्ग शास्त्री के नाटक "आदिकाव्योदय", रमानाथ-मिश्र के नाटक "श्रीरामविजय", व्यासराजशास्त्री के नाटक "विद्युन्माला" तथा बी0 श्रीनिवास भाट के नाटक "रामानन्द" आदि में सीता का चरित्र उल्लिखित है ।

पौराणिक स्त्री-चरित्रों में दमयन्ती के चरित्र का भी आधार लेकर अनेक नाटक लिखे गए हैं। नारायणशास्त्री के नाटक "कलिविधूनन" में दमयन्ती को प्रख्यात पौराणिक दमयन्ती के ही अनुरूप चित्रित करने की चेष्टा की गई है। प्रस्तुत नाटक में दमयन्ती पूर्णतः विरहोत्कण्ठिता नायिका के रूप में प्रदर्शित की गई है। स्वयंवर के पहले भी वह नल के वियोग से पीड़ित है तथा अपने हृदय के प्रबल विरहोदगारों को अपनी सखियों के समक्ष भी प्रकट कर देती है। परन्तु नल के प्रति दृढ़ानुराग के कारण उसमें इतना सतीत्व भी है कि वह पाँच-पाँच नलों में से वास्तविक नल का वरण करने में समर्थ हो जाती है। वह पति की सच्ची हितैषिणी तथा संगिनी होने के कारण पति को जुए जैसे दुष्कर्म को करने से रोकती है। इन सब प्रसंगों के बाद फिर स्वयंवर और विवाह के बाद भी दमयन्ती में विरहोत्कण्ठिता का स्वरूप प्रकट होता है। जब नल सर्प के उदर में चला जाता है तब दमयन्ती अत्यन्त विरहाकुल होकर वृक्षों तक से उसका पता पूछती है। नल के न मिलने पर लता की फाँसी लगाकर मर जाना चाहती है। वह स्वकीया नायिका है। वह एक पतिव्रता स्त्री है। उसके पातिव्रत्य के प्रभाव से शबर जल कर भस्म हो जाता है। नाटक के अन्त में अनेक विपत्तियों का सामना करते हुए दमयन्ती स्वाधीनभर्तृका के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। दमयन्ती का चरित्र वेङ्कट रंगनाथ के नाटक "मञ्जुल-नैषध", रामावतार शर्मा के नाटक "धीरनैषध", कालीपद के नाटक "नलदमयन्तीय", रामशास्त्री के नाटक "नलविजय" आदि अनेक नाटकों में उल्लिखित हुआ है।

पौराणिक चरित्र रुक्मिणी भी अगणित नाटकों में परिलक्षित होती है। सुन्दरराज के नाटक "वैदर्भी-वासुदेव" में रुक्मिणी अभिनव रूप में चित्रित है। शंकरलाल के नाटक "श्रीकृष्णचन्द्राभ्युदय" में रुक्मिणी एक पुत्रवत्सला, ममतामयी माता के रूप में चित्रित की गई है। कोई चोर जब उनके पुत्र को चुरा लेता है तो वे अत्यन्त दुःखी होती है। परन्तु बाद में संयोगवशात् महामत्स्य को काटने पर जो कामदेव निकलता है, वही रुक्मिणी का पुत्र होता है। इससे रुक्मिणी को अत्यन्त प्रसन्नता होती है। रमानाथ शिरोमणि द्वारा रचित पारिजात-हरण में भी रुक्मिणी श्रीकृष्ण का प्रणय-प्रसंग वर्णित है। रामकिशोर के नाटक "रुक्मिणी-स्वयंवर" में रुक्मिणी और कृष्ण के विवाह की कथा पूर्णरूपेण पौराणिक रूप में ही व्याख्यात है।

महाभारत की कथा पर आधारित नाटकों में "पार्थपाथेय" भी है, जिसमें अर्जुन की प्रेमिका तथा पत्नी सुभद्रा का चरित्र विकसित हुआ है। इसके साथ ही प्रस्तुत नाटकी की एक अन्य प्रमुख स्त्री-पात्र द्रौपदी भी है।परशुराम नारायण पाटणकर द्वारा विरचित नाटक "वीरधर्मदर्पण" में सुभद्रा एक साहसी क्षत्राणी तथा अपने पति की वचनानुगामिनी के रूप में चित्रित हुई है। वे अपने पति की इस बात से भी सहमत है कि महाभारत-युद्ध में अपने कर्तव्य को पूर्ण करते-करते यदि अभिमन्यु वीरगति को भी प्राप्त हो जाए,तो उन्हें कोई दुःख नहीं होगा। यह सुभद्रा की अत्यन्त साहसिक वृत्ति का ही परिचय देता है। परन्तु इसके साथ ही साथ वह अत्यन्त कोमल वृत्ति वाली भी है।

पुत्र के मरने पर तो वह सन्तोष कर लेती है किन्तु पति की मृत्यु होने पर वह भी सती होना चाहती है । महाभारतीय स्त्री चरित्रों को लेकर लिखे गए नाटकों में जग्गू श्रीवकुल भूषण का नाटक "अद्भुतांशुक" भी एक है । इसमें द्रौपदी का चरित्र उत्कृष्ट है । इसमें वह अपने मान-अपमान के बीच जीती हुई नाटक को पूर्ण सजीवता प्रदान करती है । यद्यपि प्रस्तुत नाटककी कथा मूल महाभारत की कथा से कुछ भिन्न नवीनतायुक्त है । परन्तु फिर भी नाटक के नाम अद्भुतांशुक को चरितार्थ करता हुआ प्रस्तुत नाटक द्रौपदी के वस्त्र-हरण की घटना को पूर्ण सत्य तथा स्पष्ट रूप में प्रदर्शित करने में समर्थ है । इसमें द्रौपदी का ही चरित्र केन्द्रीकृत भूमिका निभाता है, जैसा कि नाटक के नाम से ही स्पष्ट है । महाभारतकालीन स्त्री-पात्रों में सत्यवती का नाम भी अग्रगण्य है, जो हमें श्री वकुलभूषण के नाटक "प्रतिज्ञाशान्तव" में देखने को मिलता है । नाटककार श्री वकुलभूषण के एक अन्य नाटक "प्रसन्नकाश्यप" में शकुन्तला का चित्रण किया गया है । प्रस्तुत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् के पूर्ण आधार को लेकर लिखा गया है । एक अन्य प्रमुख पौराणिक स्त्री-चरित्र राधा हमें जीव न्यायतीर्थ के नाटक "श्रीकृष्णकौतुक" में परिलक्षित होता है । इसमें श्रीकृष्ण के प्रेम में विह्वल राधा का चित्रण है । यतीन्द्रविमल चौधुरी के नाटक "अमरमीर" में श्रीकृष्ण की प्रेमिका मीराबाई की जीवन-गाथा वर्णित है । इसमें मीरा श्री कृष्ण को अपना पति बना लेती हैं । अन्त में वह श्री कृष्ण की ही मूर्ति में विलीन हो जाती है ।

भारतीय ऐतिहासिक यात्रा में सावित्री का नाम सर्वश्रेष्ठ सती के रूप में आदर के साथ लिया जाता है । सावित्री के इसी सतीत्व के आदर्श

को जन-जन में प्रचारित करने के लिए सावित्री-चरित्र पर आधारित अनेक नाटक लिखे गये हैं । इनमें शंकरलाल द्वारा रचित "सावित्री-चरित" नाटक एक उत्कृष्ट स्थान रखता है । इस नाटक का प्रणयन 1882 ई0में हुआ था । इसमें सावित्री की कथा सांगोपांग रूप से वर्णित है तथा इसमें अप्सराएँ भी स्त्री-पात्र के रूप में प्रयुक्त हुई हैं । सावित्री-चरित्र पर ही आधारित श्री कृष्णमणि त्रिपाठी द्वारा "सावित्रीनाटक" भी लिखा गया । सती नारियों में राजा हरिश्चन्द्र की पत्नी शैव्या का नाम भी आदरणीय है । कविराज रणेन्द्रनाथ गुप्त ने इसी शैव्या-चरित्र को अपने "हरिश्चन्द्रचरित" नाटक में प्रस्तुत किया है । नायिका शैव्या एक पतिव्रता स्त्री तथा वीर-माता के रूप में वर्णित है । चक्रवर्ती राजा हरिश्चन्द्र जब अपने सम्पूर्ण भूमण्डल का दान कर देते हैं तब राजा को वही धैर्य बँधाती है, जिससे राजा को धर्म के मार्ग पर दृढ़ानुरागपूर्वक बढ़ने का साहस मिलता है तथा धर्म के मार्ग से एक पग भी विचलित न होने की प्रेरणा मिलती है । इसके साथ ही साथ ब्राह्मण की दासी बनने पर पति के अभाव में भी वह साहसपूर्वक एक वीरमाता की भाँति अपने पुत्र रोहिताश्व का पालन-पोषण करती है । यहाँ तक कि पुत्र की मृत्यु हो जाने पर परम्परा के विरुद्ध स्वयं ही पुत्र के शव को लेकर श्मशान में अत्यन्त धैर्य एवं साहस से जाती हैं । ये सभी बातें शैव्या के उत्कृष्ट चरित्र की ही द्योतक हैं । ऐतिहासिक स्त्री पात्रों की श्रृंखला में पृथ्वीराज की प्रेमिका संयोगिता के चरित्र पर आधारित भी नाटक हैं । मूलशंकर माणिक्यलाल याज्ञिक द्वारा रचित नाटक "संयोगिता-स्वयंवर" इसी भावभूमि पर लिखा गया है । इसमें संयोगिता, पृथ्वीराज से

अत्यन्त प्रेम करती है तथा उसे पति रूप में पाना चाहती है । बाद में उन दोनों का विवाह-संस्कार सम्पन्न होता है । युद्ध से पति के लौटने में देर होने पर संयोगिता की विरहाकुल चित्तवृत्ति का भी स्पष्ट संकेत प्रस्तुत नाटक से मिलता है । इसमें संयोगिता नायिका के सभी उत्कृष्ट गुणों से युक्त प्रतिष्ठित की गई है । संयोगिता-स्वयंवर बीसवीं शती का एक श्रेष्ठ नाटक कहा जा सकता है । नाटककार मथुराप्रसाद दीक्षित ने भी अपने नाटक "वीरपृथ्वीराज-नाटक" में संयोगिता के चरित्र को प्रस्तुत किया है । इसी प्रकार पण्डित प्रवर योगेन्द्रमोहन के नाटक-"संयुक्ता-पृथ्वीराज" में भी संयोगिता दृष्टिगत होती है ।

आधुनिक संस्कृत-नाटकों में हमे देवियों यक्ष-कन्याओं, राक्षसियों आदि के भी दर्शन होते हैं । नाटककार रामास्वामी शास्त्री के नाटक "रतिविजय" में नायिका रति है जो कामदेव की पत्नी तथा स्वर्ग में निवास करने वाली है । भगवान शिव द्वारा उसके पति को भस्म कर दिए जाने पर वह वह अत्यन्त करुण विलाप करती है तथा अपने पातिव्रत्य धर्म का परिचय देती है । अपने तपोबल के प्रभाव से वह अन्ततोगत्वा पार्वती से इच्छित वर भी प्राप्त कर लेती है । वेंकटरामराघवन के नाटक "लक्ष्मी-स्वयंवर" में देवी लक्ष्मी नायिका के रूप में चित्रित हैं । यद्यपि यह कथा पौराणिक है, तथापि कवि ने इसे बड़ी ही सरसता एवं नवीनता से प्रस्तुत किया है । विश्वेश्वर विद्याभूषण के नाटक "प्रबुद्ध-हिमाचल" में हमें गन्धर्वराजकन्या मधुच्छन्दा नामक स्त्री-पात्र प्राप्त होता है । प्रस्तुत नाटक के प्रारम्भ में मधुच्छन्दा शिव-पार्वती की उपासिका के रूप में चित्रित है । डाकुओं द्वारा अपहृत कर ली जाने पर राजा विजयकेतु मधुच्छन्दा को छुड़ाकर गन्धर्वराज चित्रभानु के पास ले जाता है, जहाँ पर मधुच्छन्दा तथा

विजयकेतु का विवाह सम्पन्न होता है । इस सम्पूर्ण नाटक में नायिका मधुच्छन्दा भारत के वैभव तथा गौरव के पूर्ण तथा चतुर्दिक् विकास के लिए सदैव प्रयत्नशील तथा तत्पर रूप में चित्रित की गई है । रमाचौधुरी के नाटक "मेघमेदुरमेदिनीय" में यक्षिणी पात्र का प्रयोग हुआ है । कालिदास के मेघदूतम् की कथा के समान ही इसमें यक्ष-यक्षिणी की विरह-वेदना वर्णित है । नाटककार वीरेन्द्रकुमार भट्टाचार्य के नाटक "शूर्पणखाभिसार" में राक्षसी पात्र शूर्पणखा का चित्रण है । इस सम्पूर्ण नाटक में शूर्पणखा द्वारा कामोद्वेग में राम तथा लक्ष्मण को रिझाने की कथा वर्णित है । देवी स्त्री-पात्रों में देवी पार्वती का चित्रण जीव न्यायतीर्थ के नाटक "कुमारसम्भव" तथा महालिङ्गशास्त्री के नाटक "उद्गातृ-दशानन" में हुआ है ।

परम्परागत पौराणिक स्त्री-पात्रों के पश्चात् हम आधुनिक नाटकों में वर्णित अत्याधुनिक उन्मुक्त विचारधारा वाले स्त्री-पात्रों का उल्लेख करेंगे । आधुनिक संस्कृत-नाटकों के उन्मुक्त विचार धारा वाले स्त्री-पात्रों पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण नाटक है -"स्नुषाविजय" । प्रस्तुत नाटक के प्रणेता सुन्दरराज हैं । इस नाटक में स्त्रियों की पूर्ण अभिनव प्रवृत्तियों का प्रदर्शन हुआ है । आधुनिक समाज में सास-बहू का कलह सर्वातिशय से व्याप्त है । प्रस्तुत नाटक में सास को ही रूढ़िवादी तथा कलही रूप में चित्रित किया गया है । वह अपनी अच्छी प्रकृति की बहू का आदर न करके दुष्ट प्रकृति की पुत्री पर विशेष स्नेह रखती है । सास दुराशा अपने को ही घर की वास्तविक स्वामिनी समझती है तथा सच्चरित्रा नामक बहू को नौकरानी समझती है और उसे अपने पति को वश में करने का आरोप लगाती है । यहाँ तक कि उस बहू को भगाकर दूसरी

बहू भी लाने का संकल्प करती है । अपने पुत्र और पति के भी समझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । यह एक आधुनिक समस्या-नाटक है । स्त्रियों के कलह के कारण ही आज परिवार संयुक्त परिवार से एकल परिवार में परिवर्तित होते जा रहे हैं । इस प्रकार प्रस्तुत नाटक आधुनिक समाज की स्त्रियों की मनोवृत्ति को स्पष्ट करने में पूर्णतः समर्थ है । नाटककार कालीपद का नाटक"प्रशान्त-रत्नाकर" भी आधुनिक समाज के स्त्री-चरित्र तथा स्त्री-समस्याओं को लेकर लिखा गया नाटक है । इसमें आदिकवि वाल्मीकि के पूर्व दस्यु रूप के आधार पर एक नवीन पात्र रत्नाकर नामक भिक्षु है जो अबला, असहाय स्त्री के अलङ्कारों को लूट रहा है तथा बलात्कार की चेष्टा कर रहा है । आधुनिक समाज में भी स्त्री कितनी असहाय और अबला है, यही इस नाटक द्वारा संदेश देने की चेष्टा की गई है । जीवन्यायतीर्थ के प्रहसन"विवाह-विडम्बन" में भी समाज की कुरीति विधवा समस्या पर प्रकाश डाला गया है । नायक रविकान्त की बहन खड्गधरा विधवा है जो अपने विधुर भाई रविकान्त के साथ रहती है । समाज द्वारा विधवाओं के प्रति बनाए गए नियम भी प्रस्तुत नाटक में परोक्ष रूप से वर्णित हैं । विधवाओं की दयनीय स्थिति के साथ-साथ विधुर वृद्धों की युवतियों के प्रति उच्छृंखलता भी प्रस्तुत नाटक में प्रचुर मात्रा में देखने को मिलती है । साठ वर्ष का वृद्ध विधुर रविकान्त चन्द्रलेखा नामक युवती से विवाह करने की योजना बनाता है । इस प्रकार प्रस्तुत नाटक आधुनिक स्त्री-समाज की दयनीय अवस्था को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है । जीव न्यायतीर्थ के ही एक अन्य नाटक भद्रसंकट में कर्कशा आधुनिक स्त्री-चरित्र वर्णित है । इसमें

यज्ञपरायण भट्ट की पत्नी कर्कशा तथा कुरूप रूप में वर्णित है । भट्ट सदैव उससे त्रस्त रहते थे । बाद में राक्षस उसका अपहरण कर लेते हैं और जब राजा उन राक्षसों को पकड़ते हैं तो राक्षस अपने बचाव के लिए भट्ट की पत्नी को सौन्दर्य प्रदान करते हैं । फिर अन्त में भट्ट और उनकी पत्नी का मिलन हो जाता है । वेंकटराम राघवन् के नाटक "विमुक्ति" में स्त्री-समाज की सपत्नी-समस्या वर्णित है । इसमें धार्मिक ब्राह्मण आत्मनाथ के छः दुःशील पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र लटकेश्वर तीन स्त्रियों से विवाह करता है और घर में तीनों स्त्रियों में कलह होता है । इसके पश्चात् भी अपनी पत्नी की अहिन चन्द्रिका पर उसकी अनुराग दृष्टि लगी है । यद्यपि उसके इस कृत्य पर पत्नी उसे सदैव धिक्कारती रहती है । इन्हीं सब स्त्री-पात्रों की समस्या से यह नाटक परिपूर्ण है । नाटककार विष्णुपद भट्टाचार्य का नाटक "काञ्चन-कुञ्चिक" भी आधुनिक स्त्री-पात्रों का प्रतिनिधित्व करता है । इसमें भी साठ वर्ष का व्यक्ति एक नवयुवती विद्युत्प्रतिभा से विवाह करना चाहता है । प्रस्तुत नाटक में एक अन्य स्त्री-पात्र कुन्दकलिका भी है । यह नाटक पूर्णतः स्त्री-समस्या-प्रधान नाटक है । विष्णुपद भट्टाचार्य का ही एक अन्य नाटक "अनुकूल-गलहस्तक" है जिसकी नायिका यामिनी आधुनिक स्त्री है । नाटक के प्रारम्भ में टेलीफोन पर नायक दिव्येन्दु से कुछ छेड़छाड़ होती है । फिर बाद में नायक को यामिनी का नौकर डाकू समझ कर बाँध देता है, यामिनी सोचती है कि इस यातना का कारण मैं ही हूँ और वह सहानुभूति-वश नायक से प्रेम करने लगती है । अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है । यह प्रहसन आधुनिक युवतियों के जीवन में होने वाली त्रासदियों को प्रदर्शित करता है । सिद्धेश्वर चट्टोपाध्याय द्वारा

रचित नाटक "अथ किम्" में भी आधुनिक परिवेश में जीने वाली स्त्रियों को चित्रित किया गया है । आशा और उर्मिला नामक दो स्त्री-पात्र प्रमुख हैं । आधुनिक समाज की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करते हुए ये दोनों स्त्री-पात्र चुनाव तथा चुनाव-सभाओं में भी सक्रिय रहती हैं । नाटक के अन्त में स्त्रियोचित स्वभावश आशा एवं उर्मिला एक दूसरे को बुरा कहते हुए आपस में लड़ाई भी करती हैं । यह सम्पूर्ण नाटक एक व्यंग्य - नाटका कही जा सकती है । आधुनिक नाट्य-श्रृंखला में महीधर वेङ्कट राम शास्त्री द्वारा विरचित नाटक "सरोजिनी-सौरभ" एक नायिकाप्रधान नाटक है । सम्पूर्ण कथानक नायिका सरोजिनी के चारों ओर ही घूर्णित होता है । नाटक के प्रारम्भ में नायक गुणचन्द्र नायिका सरोजिनी के गुणों पर इतना अनुरक्त है कि अपने पिता के कहने पर अन्यत्र एक धनिक की पुत्री से विवाह-प्रस्ताव ठुकरा कर घर से अलग होकर सरोजिनी से ही विवाह करता है । सरोजिनी अन्य गुणों से समन्वित होने के साथ-साथ पतिव्रता स्त्री भी है, तभी तो वह अपने विवाह के बाद अत्यधिक धनवान श्रीधर के विवाह-प्रस्ताव को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखती हुई अस्वीकार कर देती है और सम्पूर्ण नाटक में अन्त तक अपने पति गुणचन्द्र पर ही अनुरक्त रहती हुई उसकी सदैव रक्षा करती है । वह एक स्वाधीनभर्तृका नायिका भी है, क्योंकि गुणचन्द्र अन्ततोगत्वा उसे ही अपनी रानी स्वीकार करता है । विश्वनाथ केशव छत्रे द्वारा लिखित नाटक "शिक्षण" आधुनिक युवतियों के जीवन की विसंगतियों को सुस्पष्ट रूप से प्रदर्शित करने में पूर्णरूपेण सक्षम है । प्रस्तुत नाटक की नायिका सुधा तथा उसकी माता नलिनी बम्बई में रहने वाली

अत्याधुनिक फैशन को पसन्द करने वाली स्त्रियाँ हैं। घर के सभी सदस्यों के सामने जब सुधा नृत्य करती है, तब उसके मामा, जो कि पुरानी विचार-धारा के हैं, इस अन्धी आधुनिकता का प्रतिवाद भी करते हैं, परन्तु फिर भी सुधा एवं नलिनी पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसी आधुनिकता के कारण सुधा "सहशिक्षण" वाले विद्यालय में पढ़ती है और अपने एक सहपाठी रमण से प्रेम-विवाह करने के पश्चात् अपनी माता को पत्र द्वारा सूचित करती है। नाटक के अन्त में आधुनिक फैशन वाली माता तथा पिता से सुधा को आशीर्वाद भी मिल जाता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण नाटक आधुनिक परिवेश में जीने वाली युवतियों की जीवन-शैली पर प्रकाश डालता है। आधुनिक नाटककारों ने आधुनिक समाज की स्त्रियों के साथ साथ राजनीति से भी जुड़े स्त्री-चरित्रों से प्रभावित होकर भी अपनी नाट्य-रचना की है। इस परम्परा में वेङ्कटरत्न का नाटक "इन्दिरा-विजय" एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस सम्पूर्ण नाटक में लेखक ने श्रीमती इन्दिरा गाँधी के जीवन की अनेक घटनाओं का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। प्रस्तुत नाटक इन्दिरा गाँधी के सम्पूर्ण कर्ममय जीवन पर प्रकाश डालता है तथा नवीन भारत के चतुर्दिक् विकास में इन्दिरा गाँधी की सक्रिय भूमिका को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार यह नाटक भारतीय स्त्रियों के आधुनिक विकास एवं उन्नति का विशेष रूप से चित्रण करता है, साथ ही साथ स्त्रियोचित औदार्य, मानवता, ममत्व एवं धैर्य का भी सुस्पष्ट प्रदर्शन करता है।

निष्कर्ष -

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम यह कह सकते है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्रों के विकास -क्रम में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं । प्राचीन संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्रों की भूमिका पुरुषों पर ही केन्द्रित होती थी और प्रख्यात चरित्रों का व्याख्या करते समय कवि नायक के चारित्रिक विकास पर अधिक बल देता था, किन्तु प्राचीन परम्परा में लिखे जाने वाले नाटकों में स्त्री-पात्रों का चरित्र सदैव आदर्शवादी रहा है, जो हमारे वैदिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा कलात्मक ज्ञान से परिपूर्ण होकर ही प्रकट होता था । हम जब प्राचीन नायिकाओं के चरित्र पर गवेषणा-पूर्वक विचार करते हैं तब देखते हैं कि स्त्री के चरित्र का विकास श्रृङ्गार-रस के आलम्बन पर ही केन्द्रित था तथा स्त्रियाँ अन्तःपुर में ही अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकती थीं । प्राचीन समाज पुरुष-प्रधान होने के कारण स्त्रियों को मात्र उपभोग की वस्तु ही बनना पड़ता था, किन्तु आधुनिक बदलते हुए परिवेश में जहाँ सामाजिक, राजनैतिक,आर्थिक तथा शैक्षिक नव-विकास ने स्त्रियों के प्रति समाज की दृष्टि को बदल डाला है, वहीं आज स्त्रियाँ पुरुषों के समान अधिकारों का उपभोग भी कर रही हैं । ऐसी परिस्थिति में आधुनिक संस्कृत-नाट्यकारों ने स्त्री-पात्रों के चरित्र में नूतन विकास को उद्घाटित किया है । यद्यपि आज भी समाज में स्त्रियों को यथार्थ रूप में समुचित स्थान नहीं मिला है, तथापि आधुनिक सन्दर्भों में साहित्यिक जगत् में स्त्री-पात्रों की स्थिति बदल गई है । आधुनिक नायिका प्राचीन नायिका-वर्गीकरण के अनुरूप नहीं है,

क्योंकि प्राचीन नायिकाएँ एक सीमित क्षेत्र में ही विभाजित की गई थीं, आज वह सीमित क्षेत्र अपना मौलिक महत्त्व खो चुका है। आज न राज्य हैं, न राजदरबार। आज की जनतान्त्रिक व्यवस्थाओं में स्त्री और पुरुष दोनों ही को समान अधिकार प्राप्त हैं। शिक्षा से लेकर राजनीति तक आधुनिक स्त्रियों को अपने अधिकारों और कर्तव्यों को सम्यक् बोध है। इसी कारणवश आधुनिक नाट्यकार उन्हें प्राचीन सीमित परम्परा के अन्तर्गत नहीं चित्रित कर पाता। आधुनिक नायिका समाज के किसी भी वर्ग से चयनित की जा सकती है।

वर्तमान सन्दर्भों में हम देखते हैं कि आधुनिक संस्कृत-नाट्यकारों पर पाश्चात्त्य जगत् का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। जिसके फलस्वरूप नव-नाट्यों में स्त्री-पात्रों की भूमिकाओं में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है, क्योंकि आज के व्यस्त सामाजिक जीवन में प्राचीन शास्त्रीय मूल्यों को स्थापित करना सम्भव नहीं रहा। आधुनिक स्त्री- पात्रों का वर्गीकरण सामान्य रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि आधुनिक स्थितियों के अनुसार लिखे गए नव-नाट्यों में स्त्री विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। उदाहरणार्थ- राजनीति, शिक्षा, समाज इत्यादि भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्त्री का भिन्न-भिन्न रूप में योगदान है। तो ऐसे अनेक क्षेत्र में क्रियाशील स्त्री-चरित्र का किस-किस आधार पर वर्गीकरण किया जाए? प्राचीन संस्कृत-नाट्य शृङ्गार-रस पर केन्द्रित था तथा स्त्रियों के वय के अनुसार उनको वर्गीकृत करने की चेष्टा की गई थी, किन्तु आज स्त्री-पात्रों के वर्गीकरण को कौन सा आधार या स्वरूप

प्रदान किया जाए ?, यह अत्यन्त जटिल एवं कठिन प्रश्न है, क्योंकि समाज के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, तो वर्गीकरण का आधार सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक या शैक्षिक आदि में से कौन सा होना चाहिए? यदि इन समस्त माध्यमों को आधार मान लिया जाए तो वर्गीकरण अत्यन्त जटिल और विशाल हो जाएगा तथा यदि किसी एक दृष्टि से सीमित रूप से किया जाए तो वर्गीकरण संकुचित होकर अपने शाब्दिक अर्थ को खो देगा । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्रों के अनेक भिन्न-भिन्न स्वरूप प्राप्त होते हैं तथा नाट्य को गति देने हेतु प्रत्येक चरित्र में उसका अपना एक विशेष योगदान है । अपने परिवर्तित चारित्रिक स्वरूप के उपरान्त भी आधुनिक संस्कृत-नाट्य-साहित्य में स्त्रीपात्रों की स्थिति सुदृढ़ एवं श्लाघनीय है ।

"अध्याय - 7 "

उपसंहार

मानव-चिन्तन आदिकाल से वर्तमानकाल तक सदैव नूतन आयामों के सर्जन में रत रहा है । उसकी अभीप्सा नए-नए अविष्कारों तथा साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक संभावनाओं के प्रति जाग्रत रही है । हम जानते हैं कि मानव-जीवन विभिन्न प्रकार के भावों, संवेदनाओं एवं विचारों से जुड़ा हुआ है, इसी के परिणामस्वरूप उसके चिन्तन की परम्परा प्राचीन-काल से लेकर आधुनिक काल तक अक्षुण्ण रही है । इसी चिन्तन-प्रक्रिया के फलस्वरूप नाना प्रकार की नूतन कलाओं, साहित्यों, विज्ञानों तथा शास्त्रों आदि का आविर्भाव हुआ है। सभ्यता के अरुणोदयकाल से ही समाज को उन्नति की ओर अग्रसर कर उदात्त भावों का प्रसार करना ही साहित्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है । विकास के आरम्भिक चरणों में मानव ने सुसंस्कृत एवं उदात्त भावों को उत्पन्न करने के लिए एक नई साहित्यिक विधा का सर्जन किया, जिसका लक्ष्य मानव-समाज को पारमार्थिक अनुभूति के साथ-साथ आन्तरिक आनन्दानुभूति प्रदान करना था । भारतीय वाङ्मय में यह आनन्दानुभूति प्रदान करने वाली विशेष धारा दृश्य और श्रव्य के सामंजस्य से उत्पन्न हुई, जिसे "नाट्य" की संज्ञा प्रदान की गई है । इस विशेष कला का आविर्भाव अनूठा और अभूतपूर्व है, क्योंकि यह विविध कलाओं, विद्याओं एवं शिल्पों का संगम है । इसी कारण से आरम्भ से ही यह मानव-चिन्तन को आन्दोलित करती रही है । नाट्यनामक इस नई विधा का सर्वप्रथम प्रणयन करने वाले पुरोधा ऋषि भरत हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम नाट्य का आविर्भाव अपने ऋषित्व के तेजस्-बल से नाट्य-शास्त्र रूप में किया था इस ग्रन्थ में नाट्य-कला की ऐतिहासिकता, रचनात्मकता, अभिनयात्मकता और रसात्मकता की समस्त नीतियों, नियमों, नियामकों और नाट्य-रूढ़ियों आदि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है । यह ग्रन्थ अपने में एक सम्पूर्ण अस्तित्व

रखता है । भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र आज से हजारों वर्ष पूर्व भारत के सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और जातीय जीवन के एकत्व की यथार्थ कल्पना को नाट्य-कला के माध्यम से मूर्त रूप देने वाला अद्वितीय कोष है । इसमें वर्णित नाट्य-सिद्धान्त साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक विलक्षण विधा सिद्ध होती है, क्योंकि काव्यत्व के साथ-साथ दृश्यत्व इसकी अनिवार्य विशेषता है । दृश्यत्व के लिए दृश्य-विधान, अभिनय, पात्र, संवाद, गीत, रस तथा अन्य रङ्गमञ्चीय तत्त्वों की परम आवश्यकता होती है । जिसके लिए इसमें सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विश्लेषण किया गया है और उसके व्यावहारिक पक्ष का भी आकलन किया गया है । परवर्ती विद्वानों में आनन्दवर्धन के उपरान्त धनञ्जय, सागरनन्दी, रामचन्द्रगुणचन्द्र, शारदातनय तथा विश्वनाथ इत्यादि अधिकांशतः भरत-सम्मत दृष्टिकोण को ही प्रतिष्ठित करने का यत्न करते दृष्टिगोचर होते हैं । अस्तु, मुनि भरत ने सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे सामाजिक सांस्कृतिक तथा राजनैतिक जीवन का जो परम कल्याणकारी सन्देश दिया था, उसी के परिणामस्वरूप आज हमारी संस्कृति अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है और नूतन प्रकाश देने में समर्थ हुई है । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में भरत एवं परवर्ती आचार्यों के मतों के आधार पर संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्रों के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक पक्ष की समीक्षा प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है ।

संस्कृत-नाटकों में पात्रों के चरित्रों का विकास सामान्यतया अपनी समसामयिक स्थितियों के अनुरूप ही हुआ है । कवि द्वारा निबद्ध किए गए काव्य पर उसकी समकालीन सामाजिक तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों का

प्रभाव अमिट रूप से पड़ा है । इसका प्रमुख कारण यह है कि कवि अपने बाह्य परिवेश में घटित होने वाले घटना-व्यापारों के प्रति अत्यन्त सजग रहता है और उन सबको अपने काव्य में आत्मसात् करने की चेष्टा करता है, जो अन्ततोगत्वा उसके कृतित्व पर अंकित भी होता है, क्योंकि कवि समाज का ही एक ऐसा प्राणी, है, जो मानव-जीवन के मूल्यों को अपने चिन्तन एवं मेधा द्वारा मूल्यांकित करने की चेष्टा करता है । संस्कृत-नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही अनेक उत्कृष्ट कवि हुए हैं और समाज एवं इतिहास के प्रति अत्यन्त संवेदनशील भी रहे हैं । ऐसी परिस्थितियों में संस्कृत-नाटकों में स्त्री-पात्रों के चरित्रगत विकास के नव-नए आयाम समयानुसार परिवर्तित होते रहे हैं, क्योंकि ऐतिहासिक और सामाजिक मूल्य भी कालक्रम की दृष्टि से परिवर्तित होते रहते हैं । हम प्राचीन संस्कृत-नाटकों में आए हुए स्त्री-पात्रों की भूमिका पर गवेषणापूर्वक करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऐतिहासिक, राजनैतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से उत्पन्न विचारधारा नारी-पात्रों की भूमिकाओं पर अपना स्पष्ट प्रभाव डालती है ।

हम जानते हैं कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही सदृश रूप से इस सृष्टि के आधार स्तम्भ हैं, किन्तु प्रकृति-स्वरूपा स्त्री विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होकर पुरुष के निर्माण की शाश्वत प्रक्रिया को पूर्ण करती है । संस्कृत-साहित्य की ऐतिहासिक धारा में नारी का अपना एक विशिष्ट इतिहास है । ऋषि भरत ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था कि नारी सुख का मूल, काम-भाव का आलम्बन है । हम जानते हैं कि संस्कृत नाट्य-साहित्य में कथावस्तु का चयन अधिकांशतः ऐतिहासिक चरित्रों में से हुआ है । हमारे आदर्श पुरुषों, लोकनायकों, राष्ट्रनिर्माता

और महापुरुषों के चरित्र नाट्य के द्वारा ही जन-जीवन में व्याप्त हुए हैं। इन श्रेष्ठ महापुरुषों के चरित्र के विकास में नारी का भी एक महान योगदान रहा है। उदाहरणार्थ हमारे आदर्श नायक राम के चरित्र के विकास में सीता का चरित्र एक महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट योगदान करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसी भाँति महाभारत की मूल प्रेरणा-स्रोत नायिका द्रौपदी ही कही जा सकती है। नाट्यगर्व स्त्री-पात्रों के चरित्र की विशिष्टताओं का आकलन हमने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है और यह अनुभव किया है कि वैदिक-काल से लेकर आधुनिक काल तक नारी की स्थिति सदैव परिवर्तित होती रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हमारा समाज पुरुषप्रधान समाज है। उसने अपनी सुविधानुसार नारी पर सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि समस्त दबावों को डालने की चेष्टा की है। फलत: हम कह सकते हैं कि ऐतिहासिक कालक्रम में नारी को सदैव पुरुष की इच्छानुसार ही परिवर्तित होना पड़ा है। यद्यपि आधुनिक सन्दर्भों में नारी की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा उसकी राजनैतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता पर भी विशेष महत्त्व दिया जा रहा है, तथापि अभी भी नारी अशिक्षा, अज्ञान, अन्धविश्वास तथा रूढ़ियों से जकड़ी हुई है। नारी-स्वातन्त्र्य तथा उसके सामाजिक और आर्थिक अधिकार मात्र शाब्दिक आडम्बर बनकर रह गए हैं। तथा भविष्य में भी यह आशा की जाती है कि नारी की स्थिति परिवर्तनशील रहेगी और हमारे संस्कृत-नाट्य-रचनाकार उन नूतन स्त्री-चरित्रों को आधुनिक परिवर्तित स्वरूप के आधार पर व्याख्यात करेंगे।

संस्कृत-नाटकों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। वास्तव में संस्कृत-नाट्य लोक-जीवन के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ा होने

के कारण उस के आचार-व्यवहार से प्रभावित होता है । हम जानते हैं कि साहित्य की विविध विधाओं में कल्पनामूलक विचारों से सामाजिक चित्रण किया जाता रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप पाठक, श्रोता या सामाजिक मानसिक स्तर पर उससे साक्षात्कार करते हैं । चूँकि दृश्यत्व के साथ श्रव्यत्व नाट्य का प्रमुख तत्त्व है, जो कि मानव पर अत्यधिक व्यापक प्रभाव डालता है । नाट्य को देखने वाला सहजता से ही नाट्य से प्रभावित हो जाता है । संस्कृत-नाटक प्रमुखत: आदर्शात्मक मूल्यों से जुड़े होने के कारण समाज के अत्यधिक निकट होते हैं, क्योंकि नाट्य एक ऐसी अभिनय विधा है जिसके माध्यम से सामाजिक दृष्टि-कोणों, रीतिरिवाजों, वेश-भूषाओं और मानव-मन में उठने वाले विभिन्न अन्तरङ्ग भावों का यथार्थ चित्रण होता है । यह विचारणीय है कि मानव-जीवन के यथार्थ चित्रण से जन-सामान्य को क्या लाभ मिल सकता है ? प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि आदर्श पुरुषों या प्रख्यात चरित्रों को लेकर लिखे गए काव्य जन-सामान्य को उस गुरुतर लक्ष्य की ओर ले जाने की चेष्टा करते हैं,जिसकी वे सहज कल्पना नहीं कर सकते । हम जानते हैं कि हमारे देश में आज जब कि शिक्षा-दीक्षा पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है फिर भी शिक्षित लोगों का प्रतिशत अब भी अल्प है । तो ऐसी परिस्थिति में सभी व्यक्ति वैदिक, ज्ञान, रामायण एवं महाभारत से नि:सृत ज्ञान को कैसे आत्मसात् कर सकते हैं ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि नाट्य ऐसी विधा है,जो हमारे लोक-जीवन के प्रेरणा-प्रद व्यक्तियों के निकट लाकर खड़ा कर देती है ।

सामाजिक जीवन के अन्तर्गत परिवार,धर्म, शिक्षा,सांस्कृतिक क्रिया-कलाप इत्यादि ऐसी संस्थाएँ हैं जो मानव-जीवन पर अपना प्रभाव अंकित करती हैं।

समाज का एक अभिन्न अंग नारी वस्तुत: ऐसी केन्द्रीय भूमिका निभाती है, जिसके द्वारा समाज की ये अनेक संस्थाएँ प्रभावित होती हैं । हमने ऐतिहासिक काल-क्रम में देखा है कि नारी का सामाजिक जीवन निरन्तर परिवर्तित होता रहा है । परिवर्तनशीलता के विभिन्न आयामों में बँधी हुई नारी आज आधुनिक मोड़ पर खड़ी है । प्राय: समस्त संस्कृत-नाट्यकारों ने नारी के सामाजिक जीवन का चित्रण अपनी समसामयिक परिस्थितियों के अनुरूप ही किया है । प्राचीन काल के नाट्यकार भास,कालिदास,शूद्रक,भवभूति,राजशेखर इत्यादि समस्त नाट्यकारों की नाट्यरचनाओं का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इन लोगों ने अपने-अपने नाट्यग्रन्थ में नारी को सामाजिक स्थिति का अपने काल की परिस्थितियों के अनुरूप ही यथार्थ आकलन किया है । आधुनिक काल के नाट्यकार भी नारी की बदलती हुई परिस्थितियों, उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसकी वैयक्तिक एवं राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्रति जागरूक हैं और वह अपनी नाट्यकृतियों में नारी की स्थिति का वर्तमान सन्दर्भों में ही चित्रण करने की चेष्टा करते है । अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि कवि समाज में व्याप्त कुव्यवस्था को सुव्यवस्था में परिवर्तित कर प्रस्तुत करने का यत्न करता है तथा कवि के द्वारा ही समाज में नूतन सर्जनात्मक प्रयत्नों को गति मिलती है । यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि कोई भी उत्कृष्ट नाट्य-सर्जक ऐतिहासिक एवं सामाजिक आधारों को उपेक्षित नहीं कर सकता तथा यह प्रभाव विभिन्न संस्कृत-रूपकों में प्राप्त स्त्री-पात्रों के चरित्रों में पर्याप्त रूप से दृष्टिगत होता है ।

संस्कृत-नाटकों की सामाजिकता के सम्बन्ध में भाषा का प्रश्न भी विचारणीय हो जाता है । संस्कृत-नाट्य के स्त्री-पात्र चाहे वे कितने भी उच्च

वर्गीय क्यों न हों, प्रायः विभिन्न प्राकृत भाषाओं में ही संवाद बोलते हैं। विचित्र बात यह है कि उसी अभिजातवर्ग का नायक राजा तो संस्कृत बोलता है, परन्तु रानी नहीं। मध्यम या अधम कोटि के पुरुष-पात्रों की भाँति उत्तम वर्ग के भी स्त्री-पात्रों से संस्कृत में संवाद न बुलवाना वस्तुतः संस्कृत-नाट्य का एक आलोच्य बिन्दु है। स्त्री-पात्रों के साथ संस्कृत-नाटकों में किया गया यह भेद-भाव उसकी सहजता पर प्रश्न-चिह्न लगाता है। प्राचीन संस्कृत-नाट्य-साहित्य की इस संशोधनीय त्रुटि से तत्कालीन सामाजिक विकृति उभर कर सामने आती है। स्त्री-पात्रों के सन्दर्भ में संस्कृत-नाट्य की यह भाषागत प्रवृत्ति चिन्तनीय है।

नाट्य के विकास के आरम्भिक चरणों में स्त्री-पात्रों की भूमिका पर सर्वप्रथम दृष्टिपात करने वाले पुरोधा ऋषि भरत ने अत्यन्त गवेषणापूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। ऋषि भरत ने नाट्य में कैशिकी वृत्ति के अभिनय हेतु स्त्री-पात्रों की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत उद्भूत होने वाला रस "श्रृङ्गार-रस" है, जो मानव-मन को आह्लादित एवं आनन्दित करता है, क्योंकि श्रृङ्गार-रस के द्वारा ऐसी अनुभूति होती है जो प्रत्येक मानव को आन्दोलित करती है और इसके बिना उसका जीवन अपूर्ण सा प्रतीत होता है। इसकी महत्ता को आदि-आचार्यों से लेकर आधुनिक समस्त मनीषी एक मत से स्वीकार करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में ऋषि भरत ने नायिका-विभाजन की परम्परा का विकास किया। यद्यपि संस्कृत-साहित्य में नायिका-विभाजन नाट्य से पूर्व काव्य-शास्त्र में भी विकसित हुआ, तथापि इसका पुष्पन-पल्लवन नाट्य-शास्त्र में ही हुआ है। कतिपय विचारकों का मत है कि नाट्य-

शास्त्र में वर्णित नायिका-विभाजन को परम्परा का कामसूत्रों पर भी प्रभाव पड़ा है, किन्तु हमारे विचार में कामसूत्र का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय कामतन्त्र है और इसके अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक आधार पर नायिका-विभाजन स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं किया गया है। अतएव हो सकता है कि ऋषि भरत ने चारित्रिक विकास को दृष्टि से काम को शास्त्रीय रूप में ग्रहण करने की चेष्टा की हो। वस्तुत: कामतन्त्र नाट्य-वस्तु में उपादान-कारण होने के कारण महत्वपूर्ण है और सम्भवतया काम के महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए ऋषि भरत ने इसे अपनाया है, किन्तु उन्होंने कहीं भी इसकी श्रेष्ठता कामसूत्र की अपेक्षा अधिक नहीं प्रतिष्ठित की है। स्वयं आचार्य भरत नारी की भूमिका को काम भाव के आलम्बन हेतु प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है कि कामसूत्र के विविध प्रकरणों में स्त्रियों की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ अस्फुट रूप से विद्यमान हैं। मानव-जीवन में काम की महत्ता अत्यन्त प्रमुख है, उसे सहजता से उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अतएव ऐसा सम्भव है कि ऋषि भरत ने कामसूत्रों को अपने नायिका-विभाजन में अपने नूतन सर्जनात्मक परिवर्तन के साथ आत्मसात् किया हो।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि नायक-विभाजन की अपेक्षा नायिका-विभाजन एक गुरुतर कार्य था, क्योंकि हमने अपने सामाजिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषणों से यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिकाल में नारियाँ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि दृष्टियों से प्रतिबन्धित थीं। यहाँ तक कि उनकी शिक्षा-दीक्षा एवं अन्य सामाजिक क्रियाकलापों को भी प्रतिबन्धित किया गया था

ऐसी विषम परिस्थिति में नारी के वय के अनुसार उनके क्रिया-कलाप, चेष्टाएँ, शारीरिक संरचना के कारण उत्पन्न होने वाले उनके मानसिक परिवर्तन तथा विभिन्न अवस्थाओं में उनकी मनोदशा का आकलन करना कोई सहज कार्य नहीं था, किन्तु ऋषि भरत ने इन समस्त विपरीत परिस्थितियों पर भी अपनी सार्थक दृष्टि डाली है तथा उन्होंने समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर स्थितियों का आकलन करते हुए नायिकाओं का विस्तृत एवं सूक्ष्मतम विभाजन किया है, जिसे आज भी कोई भी संस्कृत-मनीषी या सामान्य-जन सहजता से खण्डित नहीं कर पाता । यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने अपने समकालीन परिवर्तनों को आत्मसात् करते हुए भरतप्रणीत नायिका-विभाजन को विकसित करने की चेष्टा की है, फिर भी इस क्षेत्र में आचार्य भरत की ही दृष्टि मौलिक और यथार्थ है ।

ऋषि भरत द्वारा किए गए नायिका-विभाजन का प्रमुख आधार नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा, आचरण की शुद्धता, काम की विविध दशाएँ, अङ्गरचना और अन्तःप्रवृत्ति तथा प्रकृतिगत गुण हैं । आचार्य भरत द्वारा वर्गगत एवं जातिगत विशिष्टताओं पर विशेष बल दिया गया है, जो सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से नितान्त मौलिक एवं दूरगामी परिणामयुक्त हैं । हम जानते हैं कि नायक की भाँति नायिकाओं के भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर होते हैं । प्राचीन काल में समाज चातुर्वर्णिक था । विवाह एक वर्ण से दूसरे वर्ण में निषिद्ध एवं प्रतिबन्धित था । ऐसी परिस्थिति में नायक द्वारा अपनी वर्गगत एवं जातिगत विशिष्टताओं को दृष्टिगत रखते हुए ही नायिकाओं से प्रणयोपचार की स्वतन्त्रता थी । सामान्यतया आभ्यन्तर उपचार के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले फलागम को निर्दिष्ट

करने हेतु तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में आभ्यन्तर प्रकृति की नायिकाओं का ही अन्तःपुर में प्रवेश इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि समाज में नारी के आचरण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था । सम्भवतः आचरण की शुद्धता को महत्त्व देने का कारण यह भी हो सकता है कि जिससे नायक की जातीय विशिष्टता एवं उसकी सामाजिक स्थिति पर कोई प्रभाव न पड़े । यद्यपि कुछ प्राचीन नाटकों में गणिकाओं को भी अन्तःपुर में प्रवेश दिलवाया गया है । उदाहरणार्थ "मृच्छकटिक" की नायिका वसन्तसेना गणिका है, किन्तु नायक चारुदत्त, जो ब्राह्मण है, उसके अन्तःपुर में उसे प्रवेश कराया गया है, किन्तु यहाँ ध्यातव्य है कि कवि शूद्रक ने नायिका वसन्तसेना को प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ नायिका सिद्ध करने की चेष्टा की है और उसके उत्कृष्टतम गुणों एवं त्याग के कारणवश नायक चारुदत्त उसे वधू शब्द से अनुगृहीत करता है। उपर्युक्त ऐसी शास्त्र से असम्मत स्थिति प्राचीन काल में प्राप्त होती है, इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि तब सामाजिक रूप से पुरुष और स्त्री पर समान रूप से प्रतिबन्ध था कि वे अपनी वर्णगत एवं वर्गगत विशिष्टताओं को न त्यागें अन्यथा समाज के द्वारा वे बहिष्कृत किए जाएँगे । यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतया महाकवि शूद्रक ने समाज को यह नूतन दृष्टि देने की चेष्टा की हो कि आचरण की शुद्धता वर्णगत विशिष्टताओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । तथा विशुद्ध आचरण वाली स्त्री को उच्च वर्ग में भी स्थान दिया जा सकता है । फिर भी ऐसे नाटक अपवाद स्वरूप ही स्वीकार किए जा सकते हैं, क्योंकि प्राचीन काल में समाज में धार्मिक एवं रूढ़िगत संस्कारों का इतना अधिक प्रभाव था कि व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता कोई महत्त्व नहीं रखती थी । ऋषि भरत ने नायिका-विभाजन का तीसरा आधार श्राङ्गारिक अवलम्बन

के रूप में स्वीकार किया है । वस्तुतः श्रृङ्गार मानव-जीवन का एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है जिसके माध्यम से मानव-जीवन के समस्त लौकिक व्यापार संचालित होते हैं । अतएव ऋषि भरत ने श्रृङ्गार को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए नायिकाओं के कामगत आचार की श्रृंखला में स्त्रियों के मानसिक उद्गारों की स्थितियों का भी आकलन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से किया है । यहाँ तक कि उन्होंने मानव की मूल प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की है । उनके द्वारा मानवीय स्त्रियों, देवांगनाओं, गन्धर्व-कन्याओं तथा पशु-पक्षियों की शारीरिक संरचनाओं एवं मानसिक प्रवृत्तियों का अत्यन्त स्पष्ट विश्लेषण किया गया है, जो इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि भरत मुनि ने अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चिन्तन के द्वारा मानव की मूल प्रवृत्तियों से व्युत्पन्न मानसिक भावनाओं के सार-तत्त्व को प्रदर्शित किया है । मानव-स्वभाव त्रिगुणात्मक है, इस प्रकृतिगत आधार को भी उनके द्वारा यथोचित स्थान दिया गया है, जो नितान्त मौलिक एवं सार्वभौमिक रूप से सत्य प्रतीत होता है । यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि नायिका-विभाजन की जिस श्रेष्ठ परम्परा का विकास ऋषि भरत ने किया है, वह विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता । भरत द्वारा किया गया नायिका-विभाजन लोक-जीवन के अधिक निकट है क्योंकि श्रृङ्गारावलम्बन मानव-मन को उद्वेलित करके उसे वस्तुतः आनन्द की पराकाष्ठा तक पहुँचाने में सक्षम है । अस्तु, भरत द्वारा किया गया नायिका विभाजन ठोस एवं तलस्पर्शी है, जो नाट्य-प्रयोग के क्षेत्र में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है । इसकी अपेक्षा परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया नायिका-विभाजन अत्यन्त जटिल और क्लिष्ट है । यद्यपि परवर्ती आचार्यों द्वारा अपनी समसामयिक स्थितियों के

अनुरूप नूतन सर्जनात्मक दृष्टिकोण अपनाए गए हैं, तथापि ये दृष्टिकोण भरत के विचारों पर ही केन्द्रित प्रतीत होते हैं । वैसे भरत के नायिका-विभाजन को भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है । उनके द्वारा किया गया नायिका-विभाजन मात्र श्रृङ्गार-रस की सीमा-रेखा के अन्तर्गत ही समाहित है, जो कि एक संकुचित क्षेत्र है, क्योंकि नायिकाओं की अन्य अवस्थाओं और भावनाओं तथा तज्जन्य भेदों पर भी विचार किया जाना चाहिए था, किन्तु ऋषि भरत का नाट्य-शास्त्र इस विषय में कोई दिशा-निर्देश नहीं देता है । इसका एक कारण सम्भवतः यह रहा होगा कि नाट्य के आरम्भिक विकास के समय काव्य तथा नाट्यसंरचना का क्षेत्र सीमित था, अर्थात् नाट्य-कला आभिजात्यवर्गीय थी, उसका सर्वसाधारण से कोईविशेष सम्बन्ध नहीं था । दूसरा कारण यह हो सकता है कि प्राचीन काल में स्त्रियों की कोमलता को ध्यान में रखते हुए उन्हें अधिक संरक्षण प्राप्त था, अर्थात् उन्हें जीवन-संघर्ष कम करना पड़ता था । परन्तु फिर भी भरत द्वारा मानव-जीवन की विविधताओं से युक्त नाट्य-कला को सीमित क्षेत्र में बाँधना, न्यायोचित नहीं प्रतीत होता है ।

संस्कृत-नाट्यकृतियों में नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य स्त्री-पात्र भी प्रयुक्त होते हैं । नायक एवं नायिका के प्रणयोपचार तथा अन्य विविध व्यापार को मात्र नायक एवं नायिका के माध्यम से ही पूर्णरूपेण रंगमंचित नहीं किया जा सकता । कथानक को गत्यात्मक स्वरूप प्रदान करने हेतु सहायक स्त्री-पात्रों की आवश्यकता होती है, क्योंकि कथानक में गत्यात्मकता तभी सम्भव है जब वह नायक अथवा नायिका के अन्तःसंघर्ष से पूर्ण हो । ये अन्तःसंघर्ष ही ऐसे

तथ्य हैं, जो मात्र नायक अथवा नायिका के द्वारा रङ्गमञ्चित नहीं किए जा सकते । इसी कारण से सम्भवतः भरत ने सहायक स्त्री-पात्रों की भूमिकाओं पर समुचित प्रकाश डाला है । सहायक स्त्री-पात्रों की भूमिका यद्यपि गौण होती है, तथापि नायिका के चारित्रिक विकास में ये सहायक स्त्री-पात्र अत्यन्त उपयोगी होते हैं तथा कथानक सहज रूप से इन्हीं के द्वारा आगे बढ़ता है । कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य स्त्री-पात्रों के द्वारा नायिकाओं के प्रणय-व्यापार, अभिसरण तथा अन्तर्द्वन्द्व के प्रकटीकरण इत्यादि में समुचित सहायता मिलती है । इस प्रकार सहायक स्त्री-पात्रों की भी अपनी एक विशिष्ट भूमिका होती है । ऋषि भरत ने 18 प्रकार के सहायक स्त्री-पात्रों का उल्लेख किया है तथा उन्हें अन्तःपुर के नाट्योपयोगी पात्र की संज्ञा प्रदान की है । सहायक स्त्री-पात्रों के विषय में भरत द्वारा किया गया विभाजन अपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि उन्होंने मात्र राजदरबार"में प्रयुक्त होने वाले कुछ सीमित स्त्री-पात्रों का ही उल्लेख किया है, जिसके फलस्वरूप उनके परवर्ती नाट्यकारों को अपनी नाट्य-रचना में इन सहायक स्त्री-पात्रों की कमी का अनुभव एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । इसी कारणवश परवर्ती नाट्यकारों ने अपनी नाट्यरचनाओं में कुछ नूतन सहायक स्त्री-पात्रों का सर्जन किया है, जैसे महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों मे सखी नामक नूतन सहायक स्त्री-पात्र का समावेश किया है, क्योंकि कथानक के अनुसार उन्हें नए स्त्री-पात्रों की आवश्यकता थी । पुनश्च, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होंने नायिका शकुन्तला के आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व को सामाजिकों के समक्ष प्रकट करने के उद्देश्य से ही इन नूतन स्त्री-पात्रों का चयन किया है ।

सखी ही ऐसा स्त्री-पात्र है जो नायिका के समकक्ष ही गुण-सम्पन्न होता है और नायिका की समस्त अन्तरङ्ग स्थितियों का ज्ञान उसे सहज ही हो जाता है । आन्तरिक स्थितियों का अनावरण, जो नितान्त वैयक्तिक होता है, उसे कोई सबके समक्ष सहज ही प्रकट नहीं करता, परन्तु सखी नामक पात्र के माध्यम से नायिकाओं के अन्तर्मन का प्रकटीकरण सामाजिकों के समक्ष सहजता से कराया जा सकता है । इसी कारणवश परवर्ती आचार्य धनञ्जय एवं रामचन्द्रगुणचन्द्र ने सखी नामक पात्र पर विशिष्ट दृष्टि डाली है तथा उसे शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया है ।

सहायक स्त्री-पात्रों के विषय में भरत एवं परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ नूतन सहायक स्त्री-पात्रों का सर्जन परवर्ती नाट्यकारों ने अपने नाटकों में किया है । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि परवर्ती नाट्य-रचनाकारों ने जब अपनी समसामयिक स्थितियों के अनुरूप कथानकों का चयन किया, तो भरत अथवा भरत के परवर्ती आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर ही सहायक स्त्री-पात्र पर्याप्त नहीं थे, अर्थात् नवीन परिस्थितियों के कारण कुछ नवीन स्त्री-पात्रों का जन्म हुआ, उदाहरणार्थ- मालतीमाधवम् में कपालकुण्डला, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में यवनियाँ मुद्राराक्षसम् में सेठ चन्दनदास की पत्नी आदि ऐसे ही नवीन स्त्री-पात्र हैं । अस्तु, परवर्ती नाट्यकारों की समसामयिक सामाजिक परिस्थितियों तथा राजनैतिक घटनाक्रमों के फलस्वरूप ही विभिन्न प्रकार के मध्यम तथा अधम श्रेणी के नूतन सहायक स्त्री-पात्रों का विकास हुआ है । यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि क्या नाट्यकार अपने शास्त्रीय नाट्य-काव्यों में स्वतन्त्र रूप से पात्रों का चयन कर

सकते हैं ? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि इस सन्दर्भ में भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र तथा परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थ कोई निर्देश नहीं देते, वे इस विषय में मौन ही हैं तथा नही शास्त्रीय परम्परा में ऐसा कोई प्रतिबन्ध मिलता है कि शास्त्र से अलग अन्य प्रकार के पात्र नाट्य में वर्जित हैं । ऐसा भी सम्भव है कि ऋषि भरत अथवा परवर्ती आचार्यों ने इसे नाट्यकारों के स्वविवेक पर छोड़ दिया हो । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि सहायक स्त्री-पात्र भी नाटक में अपना एक प्रमुख एवं विशिष्ट स्थान रखते हैं, जो कथानक को फलागम तक ले जाने तथा सुमनस् सामाजिकों को कथानक का सरलता से अभिज्ञान कराने में सहायता प्रदान करते हैं ।

नाट्यशास्त्रीय परम्परा में शृङ्गार-रस के अवलम्बन पर ही नायिका-विभाजन वर्णित हुआ है । अभिनय के क्षेत्र में भी शृङ्गार-रस की केन्द्रीय भूमिका होती है । शृाङ्गारिक चेष्टाओं हेतु नायिकाओं की शोभावर्धनार्थ आचार्यों ने अलङ्कारों की व्याख्याएँ की हैं । ये अलङ्कार मात्र शोभावर्धनार्थ गुण-धर्म ही नहीं, अपितु सौन्दर्य का परिचय देने वाले तथा आन्तरिक एवं बाह्य अभिव्यक्ति के उपादान कारण होते हैं । आचार्यों ने अलङ्कारों को नायिकाओं की भाव-सम्प्रेषणीयता से जोड़ने की चेष्टा की है । भाव-सम्प्रेषणीयता वो प्रमुख तत्त्व है, जिसके फलस्वरूप रस अभिव्यक्त होता है,क्योंकि नाट्य देखकर जब भावों का उन्मेष होता है तब सामाजिक उससे तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है । यह अनिर्वचनीय आनन्द ही रसोत्पादक होता है तथा इस रस की गृह्यता विलक्षण है । तात्पर्य यह है कि नायिकाओं के अलङ्कार सीधे-सीधे रसाश्रय से जुड़े हुए हैं ।

ध्यातव्य है कि मानव-प्रकृति त्रिगुणात्मक है -सात्त्विकी, राजसी और तामसी । हमारे पुरोधा ऋषि भरत ने अलङ्कारों की सम्प्रेषणीयता को सात्त्विक वृत्ति के अन्तर्गत तिरोहित किया है । वस्तुतः सात्त्विक वृत्ति ही मनुष्य को उत्कृष्टतम आदर्शों की ओर उन्मुख करने की पर्याप्त चेष्टा करती है । इसका प्रमुख कारण यह भी है कि हमारा सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य नितान्त आदर्श-वादी मूल्यों से जुड़ा हुआ है । अतएव अभिनय में सात्त्विक-भाव एक महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु बन जाता है । वास्तव में सत्त्व या अन्तर्मन में होने वाले भावों का परिवर्तन तथा तज्जन्य विशिष्ट आङ्गिक चेष्टाएँ जब समग्रता से सात्त्विक भावों का प्रदर्शन करती हैं, तो सुमनस सामाजिक उसे देखकर सहज ही भाव-विह्वल हो जाता है । हम जानते हैं कि आरम्भ में जब सत्त्व में कोई विकार नहीं होता है, तब ये भाव मन की आन्तरिक अनुभूतियों के मध्य छिपा होता है, किन्तु जब सात्त्विक विकार उत्पन्न होता है तब रसोद्रेक होने लगता है जो सुमनस सामाजिकों को भावनात्मक तादात्म्य स्थापित करने में सहायता प्रदान करता है । वस्तुतः अलङ्कार इन्हीं सात्त्विक भावों एवं रस पर आधारित एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक विषय-वस्तु है । भरत द्वारा प्रणीत नायिकाओं की आलङ्कारिक व्याख्याएँ अत्यन्त दार्शनिक महत्त्व रखती हैं, क्योंकि उन्होंने भाव की सम्प्रेषण प्रक्रिया को मानव के प्रकृतिस्थ एवं प्रकृतिगत विशेषताओं से जोड़ा है । ऋषि भरत द्वारा की गई नायिकाओं के अलङ्कार की व्याख्याओं का आलोचनात्मक परीक्षण करना कोई सहज कार्य नहीं है, क्योंकि परवर्ती आचार्यों ने भी भरतप्रणीत नायिकाओं के अलङ्कार की विवेचना को बिना किसी परिवर्तन के ही सहज रूप में स्वीकार कर लिया है ।

वर्तमान सन्दर्भों में भी नायिकाओं के अलङ्कारों की अवहेलना साधारणतया कोई भी नाट्य-कार नहीं कर सकता है, क्योंकि ऋषि भरत ने नायिकाओं के अलङ्कारों पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतम दृष्टि डाली है। इसलिए उनमें कोई त्रुटि निकालना सहज कार्य नहीं है। यद्यपि वर्तमान सन्दर्भों में उनका थोड़ा बहुत अवमूल्यन हो गया है, क्योंकि आज के नाट्यकार अपनी समसामयिक-परिस्थितियों में नाट्यरचनाओं में प्राचीन काल के उत्कृष्ट नाट्यकारों की भाँति उतने अधिक मात्रा में अलङ्कारों का प्रयोग नहीं कर पाते, तथापि वे सहज रूप में अपनी नाट्यरचनाओं में कुछ अलङ्कारों का प्रयोग अवश्य करते ही हैं। निस्सन्देह भरत प्रणीत नायिकाओं के अलङ्कारों की व्याख्याएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु इस क्षेत्र में कुछ ऐसे भी प्रश्न हैं जिनका प्रत्युत्तर संस्कृत-मनीषियों द्वारा आज तक नहीं दिया जा सका है, जो कि विचारणीय सत्य को उद्घाटित करते हैं। प्रथमत: -सात्त्विक विकार के सम्बन्ध में आज भी यह प्रश्न उठता है कि यह विकार अभिनय करने वाले नायक एवं नायिका के हृदय में कैसे उत्पन्न होगा ? द्वितीयत: नायक-नायिका द्वारा किया गया भाव-सम्प्रेषण बार-बार अभिनय करने के कारण अपने मौलिक अर्थ को खो देता है। हम जानते हैं कि सत्व की उत्पत्ति लोकजीवन में युवक-युवती के हृदय में सर्वप्रथम प्रेम-भाव के उत्पन्न होने पर होती है। स्वयं ऋषि भरत ने सत्त्व को निर्विकार भाव से उत्पन्न विकार रूप में ही स्वीकार किया है, जो कि प्रकृतिस्थ है और प्रथम प्रणय की अवस्था में उत्पन्न होता है, तो ऐसा प्रकृतिस्थ भाव नाटक के नायक और नायिका के मध्य कैसे उत्पन्न होगा, जो यह पूर्णरूपेण जानते हैं, कि वे दोनों मात्र अभिनय-सीमा के अन्तर्गत ही जुड़े हुए हैं ? इसके साथ ही साथ नायक और नायिका एक दूसरे से परिचित भी होते हैं, जब कि

सत्व में विकार सर्वप्रथम मिलन के समय उत्पन्न होता है । उपर्युक्त प्रश्न अत्यन्त ज्वलन्त एवं विचारणीय है । इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि नायक एवं नायिका के अभिनय के माध्यम से सजीव सत्त्व-विकार के प्रदर्शन के लिए नाट्यकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि नायक-नायिका का चयन इतनी कुशलता से हो कि वे अत्यन्त संवेदनशील हों तथा भाव-सम्प्रेषण को अत्यन्त सजीव रूप से प्रदर्शित कर सकें, क्योंकि भावाभिव्यक्ति ही नाट्य को अपने चरम उद्देश्य तक ले जाने में सहायक तथा प्रमुख कारण होती है । तात्पर्य यह है कि भाव-सम्प्रेषण की प्रक्रिया सुमनस सामाजिकों के हृदय-स्थल पर अपनी अमिट छाप डालती है, किन्तु बार-बार अभिनय के कारण नायक और नायिका के मिलनोपरान्त सहज और प्रकृतिस्थ भावों का व्युत्पन्न होना सहज नहीं प्रतीत होता । अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि नायिकाओं के अलङ्कारों की व्याख्याएँ निर्विवाद रूप से सत्य प्रतीत होती हैं, तथापि नाट्य के रङ्गमञ्चन हेतु नितान्त कुशल एवं योग्य निर्देशक की आवश्यकता होती है, जो नाट्य में निर्दिष्ट भावों को नायक-नयिका के द्वारासम्प्रेषित करवा सके । निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भाव-सम्प्रेषणीयता को आधार मानकर नायिकाओं के अलङ्कारों पर भले ही आक्षेप कर लिया जाए, फिर भी वे नितान्त मौलिक एवं यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित हैं ।

आज बदलती परिस्थितियों में नारी के शाश्वत मूल्यों का प्रतिमान पूर्णरूपेण बदल चुका है । प्राचीन परम्परा में श्रृङ्गार-रस को ही प्रमुख आधार मानकर नाट्य लिखे गए, जिनमें भरत से लेकर परवर्ती आचार्यों तक के शास्त्रीय नियमों का कठोरता से पालन किया गया है, किन्तु आधुनिक नाट्य-परम्परा

में हम देखते हैं कि 16वीं शती से लेकर 18वीं शती के उत्तरार्द्ध तक लिखे गए कतिपय नाटकों में नाट्य-शास्त्र के नियमों का अल्पमात्रा में ही पालन किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि संस्कृत के नव-लेखन में सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक परम्पराओं के परिणामस्वरूप विकसित मूल्यों का जो प्रभाव पड़ा है, उससे आधुनिक संस्कृत-नाट्यकार भी प्रेरित हुए हैं तथा उन्होंने प्राचीन परम्परा के कठोर शास्त्रीय नियमों का निषेध किया है। 19वीं शती के प्रारम्भ से लेकर 20वीं शती के उत्तरार्द्ध तक संस्कृत नाट्य-साहित्य में शनैः-शनैः उत्तरोत्तर विकास होता चला जा रहा है। संस्कृत-साहित्य-जगत् में पश्चात्त्य शैली तथा विचारधारा को आत्मसात् किया जा रहा है। इसके फलस्वरूप प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय नियम विलुप्त होते जा रहे हैं। आधुनिक युग में लिखे जाने वाले नाटक नई परम्पराओं की अभिव्यक्ति करते हैं। हम देखते हैं कि 20वीं शती के उत्तरार्द्ध से रेडियो-नाट्य, एकांकी तथा लघु-नाट्य का विकास होता जा रहा है, जो प्राचीन परम्परा से सर्वथा भिन्न हैं। आज नाटक समस्याप्रधान हो गया है। वह समाज, देश तथा जातिगत विकृतियों की विभिन्न स्तरों पर कटु आलोचना कर रहा है। इस आधुनिक परम्परा का विकास आज के बौद्धिक स्तर की एक तरह से पहचान भी है, क्योंकि वर्तमान सन्दर्भों में प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय मूल्यों का आकलन एवं अनुगमन जन-सामान्य की समझ से परे है। आधुनिक नाट्यकारों ने इन बदलती परिस्थितियों के अनुरूप नाट्य- विकास की जो आधुनिक तथा शास्त्रीय नियम-रहित परम्परा को अपनाया है, वह न्यायोचित ही प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि आज व्यक्ति और समाज इतना बदल चुका है कि नाटक देखने, पढ़ने और समझने के लिए उसके पास समयाभाव है। सम्भवतः इसी कारणवश लघु-नाटकों का

जन्म हुआ है, जो अल्प समय में ही महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश देने में समर्थ हैं । हम जानते हैं कि संस्कृत-साहित्य, चाहे वह काव्यात्मक हो या नाटकीय संवेदनाओं से जुड़ा हो, वह सदैव ही आदर्शवादी मूल्यों के लिए संघर्ष करता रहा है । आधुनिक नाट्यकार इन संघर्षपूर्ण स्थितियों के प्रति अधिकांशतः आक्रोश ही प्रकट करते हैं तथा नाट्य को आदर्शात्मिक मूल्यों की ओर मोड़ने की चेष्टा भी करते हैं।

ध्यातव्य है कि नारी का स्वरूप प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक सदैव परिवर्तनशील रहा है और आज भी उसका स्वरूप बदलता ही चला जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक संस्कृत-नाट्यकारों ने नारी के विभिन्न स्तरों का मूल्यांकन समसामयिक परिस्थितियों-का किया है । प्राचीन परम्परा में भी तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भों एवं मूल्यों के आधार पर ही नारी का मूल्यांकन किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि नाट्यकार चाहे जिस युग का हो, उसे अपनी समसामयिक स्थितियों के अनुरूप ही अपनी विधा या शैली को विकसित करना पड़ता है । अस्तु, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक नाट्य-परम्परा में लिखे जाने वाले संस्कृत-नाट्य वर्तमान युग के मूल्यों पर आधारित हैं तथा आदर्शात्मक मूल्यों के लिए संघर्षरत हैं ।

आधुनिक युग में रङ्गमञ्च की स्थिति पूर्णतया बदल चुकी है । नाट्य-शास्त्र के शास्त्रीय नियमों एवं सिद्धान्तो का अवसान हो गया है । ऐसी परिस्थिति में नाट्य-शास्त्रीय नियमों एवं सिद्धान्तों का मात्र मूल्यांकन किया जा सकता है, किन्तु उनका वास्तविक प्रयोग लगभग शून्य सा हो गया है । पाश्चात्त्य नाट्यकार शेक्सपियर, आर्थरमिलर, इब्सन इत्यादि ने जो नाट्य के

क्षेत्र में क्रान्ति की थी, उसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा । आधुनिक भारतीय संस्कृत-नाट्यकार भी उन पाश्चात्य विचारकों की वैचारिक सत्ता से प्रभावित हैं । अतएव आधुनिक नाट्यकारों ने नए लिखे जाने वाले नाटकों में हमारे प्राचीन शास्त्रीय मूल्यों का अवमूल्यन कर दिया है । नए सर्जनकारों ने एकांकी, रेडियो नाटक इत्यादि की रचना करके तथा बदलती सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों ने मानव-जीवन को पूर्णतः बदल डाला है । ऐसी परिस्थिति में प्राचीन नियमों से नाटकों का लिखना एवं उन लिखे जाने वाले नाटकों का मञ्चन अत्यन्त कठिन सा हो गया है, क्योंकि आज दर्शक या सामाजिक अत्यन्त अल्प समय में ही नाट्य का रसास्वाद लेना चाहते हैं । ऐसी विषम परिस्थिति में नाट्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित नाट्य-धर्म, रस-भाव, पात्र, कथानक एवं संवाद जैसे प्रमुख तत्त्व सर्वथा परिवर्तित स्वरूप वाले प्रतीत होते हैं, फिर भी नाट्य-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अपना एक अनूठा ही महत्त्व है, जिसपर गहन चिन्तन की आवश्यकता है, क्योंकि भरत का नाट्य-शास्त्र नूतन प्रयोगात्मक दृष्टिकोण प्रदान करने में संस्कृत-जगत् में एक विशिष्ट स्थान रखता है । अस्तु, तात्पर्य यह है कि नायिका विभाजन की प्राचीन-परम्परा का अध्ययन तो किया जा सकता है, किन्तु आधुनिक दृष्टि से आधुनिक रङ्गमञ्च हेतु इसमें नूतन परिवर्तन की आवश्यकता है ।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ सूची

क: संस्कृत - शास्त्रीय-ग्रन्थ

अभिनवगुप्तपादाचार्य, अभिनव भारती, गा0 ओ0सी0, बड़ौदा, 1964

दण्डी, काव्यादर्श, काशी, 1958

धनञ्जय, दशरूपक (अवलोक सहित) नि सा0, बम्बई, 1941

" दशरूपक, सं0 श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1976

" दशरूपक (हि0 अनुवाद) हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, 1963

भरत, नाट्यशास्त्रम्, प्रथम भाग, अनु0 बाबूलाल शुक्ल, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, 1984

" नाट्यशास्त्रम्, द्वितीय भाग, अनु0 बाबूलाल शुक्ल, वाराणसी, 1978

" नाट्यशास्त्रम्, तृतीय भाग, अनु0 बाबूलाल शुक्ल, वाराणसी 1983

" नाट्यशास्त्र (अ0भा0 सहित) (द्वि0सं0 1-7) सम्पादक रामकृष्ण कवि, संशोधन-के0एस0 रामास्वामी शास्त्री, गा0ओ0सी0, 1956

" नाट्यशास्त्र (अ0भा0 सहित 8-18) सम्पादक रामकृष्ण कवि, गा0ओ0सी0, 1934

भरत,	नाट्यशास्त्र, (अ०भा०सहित, 19-26) सम्पादक रामकृष्ण कवि, गा० ओ० सी०, 1954
	नाट्यशास्त्र, (अ०भा० सहित 26-36) गा० ओ०सी० 1964
भानुदत्त मिश्र,	रसमञ्जरी (द्वि०संस्करण) प्रकाशक श्री हरिकृष्णनिबन्ध भवनम् बनारस, 1951
भोज,	सरस्वतीकण्ठाभरण, नि० सा० बम्बई, 1934
"	श्रृङ्गारप्रकाश (1-2) सं०पी०सुब्रह्मण्यम् शास्त्री, श्रीरङ्गम्, 1939
रामचन्द्र-गुणचन्द्र,	नाट्यदर्पण(हिन्दी) सम्पादक डा०नगेन्द्र, दिल्ली, 1961
"	नाट्यदर्पण गा० ओ०सी०, 1959
रूपगोस्वामी,	नाटकचन्द्रिका, अनु० बाबूलाल शुक्ल, जबलपुर, 1964
विश्वनाथ,	साहित्यदर्पण, सम्पादक डा०निरूपण विद्यालङ्कार, साहित्य भंडार, मेरठ, 1974
"	साहित्यदर्पण, श्रीयुतहरिदाससिद्धान्तवागीश भट्टाचार्य, कुसुम-प्रतिभा टीका, पं०सं०1874
विद्यानाथ,	प्रतापरुद्रयशोभूषण (रत्नापण टीका सहित) बम्बई, 1909
शारदातनय,	भावप्रकाशनम्, अनु० मदनमोहन अग्रवाल, सादाबाद (मथुरा) 1978
	भावप्रकाशनम्, गा०ओ०सी०, बड़ौदा, 1930
शिङ्ग-भूपाल,	रसार्णवसुधाकर, सं०टी०गणपति शास्त्री, वि०सं०सी० 1916

सागरनन्दी — नाटकलक्षणरत्नकोश, सम्पादक बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौ०सं०सी०, वाराणसी, 1972

ख:-हिन्द्री ग्रन्थ एवं कोष

अमर सिंह — अमरकोष, नि० सागर, बम्बई, 1940

अरुण अब्रोला — बिहारी-सतसई में नायिका-वर्णन, प्रथम सं०आशा प्रकाशन गृह, नई दिल्ली, 1976

ए०बी० कीथ — संस्कृत नाटक, भाषान्तरकार डॉ०उदयभान सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, 1965

कुसुम भूरिया — कालिदास के रूपकों का नाट्यशास्त्रीय विवेचन, ग्रन्थम रामबाग, कानपुर, 1979

चन्दूलाल दूबे — हिन्दी-रङ्गमञ्च का इतिहास, कुंजबिहारी पचौरी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, 1974

चित्रा शर्मा — संस्कृत-नाटकों में समाज-चित्रण, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, 1969

जगदीशदत्त दीक्षित — भास की भाषा सम्बन्धी तथा नाटकीय विशेषताएँ, प्र०संस्करण, आर्य बुक डिपो, 30, नाईवाला, करौलबाग, दिल्ली, 1967

दशरथ ओझा — हिन्दी नाट्य: उद्भव और विकास, तृ० संस्करण, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1961

देवीदत्त शर्मा — कालिदास की कला और संस्कृति, प्र०संस्करण, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1970

देवर्षि सनाढ्य — भारतीय नाट्य-शास्त्र तथा हिन्दी-नाट्य-विधान, प्र0संस्करण, एस0चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, नई दिल्ली, 1981

नगेन्द्र — हिन्दी अभिनवभारती, दिल्ली, 1961

नेमिचन्द्र शास्त्री — महाकवि भास प्र0 संस्करण, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972

पी0वी0 काणे — संस्कृत-काव्यशास्त्र का इतिहास, अनुवादक इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प्र0 संस्करण, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1966

प्रेमलता अग्रवाल — हिन्दी-नाटकों में नायिका की परिकल्पना, प्र0संस्करण, रमा साहित्य प्रकाशन, मेरठ, 1969

बलदेव उपाध्याय — संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, 1952

संस्कृत-वाङ्मय, शारदामन्दिर, रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी, 1969

बैंडर मैथ्यूज — ए स्टडी ऑफ ड्रामा, अनुवादिका इन्दुजा अवस्थी-"नाटक साहित्य का अध्ययन" आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 1964

भानुशंकर मेहता — भरत-नाट्यशास्त्र तथा आधुनिक प्रासंगिकता, विमललाठ, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1982

मनोहर काले, — भारतीय नाट्य-सौन्दर्य, प्र0 संस्करण, मेघ प्रकाशन, दिल्ली, 1982

मुहम्मद इसराइल खाँ, संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष, क्रीसेन्ट पब्लिशिंग हाउस, गाजियाबाद, 1985

रघुवंश, नाट्यकला, प्र0 संस्करण, नेशनलपब्लिशिंग हाउस दिल्ली, 1961

रघुवरदयाल वार्ष्णेय, रङ्गमञ्च की भूमिका और हिन्दी नाटक, प्र0संस्करण, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली, 1979

रामकृष्ण कवि भरतकोष, पूना, 1961

रामसागर त्रिपाठी भारतीय नाट्यशास्त्र और रङ्गमन्च, प्र0संस्करण, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1971

राय गोविन्दचन्द्र भरत नाट्यशास्त्र में रङ्गशालाओं के रूप, काशी, 1958

रामलखन शुक्ल संस्कृत-नाट्यकला, प्र0संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, 1970

रामजी पाण्डेय भारतीय नाट्य-सिद्धान्त, उद्भव और विकास, प्र0 संस्करण, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1982

रामेश्वर प्रसाद शर्मा राजशेखर और उनका युग, प्र0संस्करण, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना 1977

रामजी उपाध्याय संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि0 संस्करण, रामनारायण लाल विजय कुमार, विक्रमाब्द 2027

मध्यकालीन संस्कृत-नाटक, नए तथ्य नया इतिहास, प्र0संस्करण, संस्कृत परिषद् सागर विश्वविद्यालय, सागर, 1974

आधुनिक संस्कृत-नाटक, नए तथ्य नया इतिहास,
प्र0 संस्करण, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर

लक्ष्मीनारायण लाल — रङ्गमञ्च और नाटक की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 23 दरियागंज, नई दिल्ली 1965

वल्लभदास तिवारी — हिन्दी-काव्य में नारी

श्याम शर्मा, — संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1974

शान्तिगोपाल पुरोहित, — नाट्य-दर्शन, प्र0 संस्करण, पञ्चशील प्रकाशन, जयपुर, 1970

शान्ति जैन, — वेणीसंहार की शास्त्रीय समीक्षा, प्र0 संस्करण, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1977

शिवचरण शर्मा, — आचार्य भरत, प्र0 संस्करण, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971

शिवराम माली, — चन्दूलाल दूबे अभिनन्दन ग्रन्थ, नाटक और रङ्गमञ्च सम्पादित, दिल्ली, 1979

सत्यनारायण पाण्डेय, — संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वि0 संस्करण, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1972

सीताराम चतुर्वेदी, — अभिनव नाट्य-शास्त्र, तृ0संस्करण 1985 किताब महल, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद

सुधा गुप्ता, — विभिन्न युगों में सीता का चरित्र-चित्रण, प्र0संस्करण, प्रज्ञा प्रकाशन नई दिल्ली, 1978

सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, भरत और भारतीय नाट्यकला, प्र0संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1970

सूर्यकान्त, संस्कृत हिन्दी, इंग्लिश, संस्कृत शब्दकोष

हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा, द्वि0संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1963

ग: संस्कृत ग्रन्थ एवं पुस्तक

रामजी उपाध्याय, विंशताब्दिकं संस्कृत नाटकम्, प्र0 संस्करण, संस्कृत-परिषद, सागर विश्वविद्यालय, सागर, वि0सं02035

दशरूपक-तत्वदर्शनम्, प्र0संस्करण, भारतीय संस्कृत संस्थान इलाहाबाद, संवत्सर 2035

घ: संस्कृत - नाटक

अनङ्ग हर्ष, तापसवत्सराज, डॉ0देवीदत्त शर्मा, प्रो0 इन्द्रदत्त उनियाल, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1969

आचार्य विश्वनाथ, चन्द्रकला नाटिका, प्रभात शास्त्री साहित्याचार्य, देवभाषा प्रकाशन, इलाहाबाद

कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, निर्णय सागर, 1913

विक्रमोर्वशीयम्, सुरेन्द्रनाथ शास्त्री, निर्णय सागर, बम्बई, 1942

प्रभुदत्त शास्त्री, संस्कृत पाण्डिजय नाटक, दिल्ली, 1942

भट्ट नारायण, वेणीसंहार, सम्पादक-डॉ0 शिवराज शास्त्री, मेरठ, 1972

भवभूति, मालतीमाधव, अनुवादक एवं सम्पादक-राम प्रताप त्रिपाठी, शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1973

" महावीरचरित, अनु0 सम्पा0-रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 1973

" उत्तररामचरित, टी0शुक्ला, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1974

भास स्वप्नवासवदत्तम् , सम्पा0-डॉ0 गणेशदत्त शर्मा, मेरठ, 1975

" भास-नाटक-चक्रम्, पूना 1937

" मध्यमव्यायोग, सम्पा0-डॉ त्रिलोकी नाथ द्विवेदी, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, 1979

" प्रतिज्ञायौगन्धरायण, पूना, 1937

" चारूदत्त, पटना, 1962

दूतघटोत्कच, पूना, 1937

मथुराप्रसाद दीक्षित, भारतविजय-नाटकम्, अनु0 अयोध्यानाथ दीक्षित, तृ0 संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, विक्रमाब्दी 2009

" भक्तसुदर्शन नाटक, सरस्वती सदन, झाँसी, 2010

मूलशंकरमाणिक्यलालयाज्ञिक, प्रतापविजयम, सम्पा0-प्रभात शास्त्री, प्रथम संस्करण, देवभाषा प्रकाशन, प्रयाग 1979

राजशेखर, — विद्धशालभञ्जिका नाटक, सम्पा0-बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्र0 संस्करण, चौखम्भा ओरियन्टालिया, 1976

" — कर्पूरमञ्जरी, सम्पा0-गंगासागर राय, प्र0संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1979

राजेन्द्रप्रसाद मिश्र, — चतुष्पथीयम्, प्र0संस्करण, वैजयन्त प्रकाशन प्रयाग,

रूपगोस्वामी, — दानकेलिकौमुदी, अनु0-प्रो0 नूरूल हसन, एस0एन0शास्त्री प्र0संस्करण, भारती प्रकाशन, इन्दौर, 1976

" — ललितमाधव नाटक, सम्पा0-बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्र0संस्करण, चौखम्भासंस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी वि0सं02026

रेवा प्रसाद द्विवेदी, — कालिदास ग्रन्थावली, वाराणसी, 1976

विशाखदत्त, — मुद्राराक्षसम्, सम्पा0-डाॅ0रामशङ्कर त्रिपाठी, वाराणसी 1971

वी0राघवन, — अनारकली, प्र0संस्करण, संस्कृतरङ्ग, मद्रास 1972

शूद्रक, — मृच्छकटिक, सम्पा0-रामानुज ओझा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972

हर्ष, — नागानन्द नाटक, व्याख्याकार-बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा-संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1986

रत्नावली नाटिका, टीकाकार-तारिणीश झा, इलाहाबाद, 1976

प्रियदर्शिका नाटिका

ङ: पत्र पत्रिकाएँ

जनरल ऑफ गङ्गानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

प्राची ज्योति, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

प्रज्ञा, काशी विश्वविद्यालय, काशी

सागरिका, सागर, मध्यप्रदेश

सुबोध पत्रिका, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दुस्तानी, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद

च: अंग्रेजी ग्रन्थ

Keith, A.B., - Classical Sanskrit Literature, London, 1961

Ratnamayi Devi, -- Woman in Sanskrit Dramas, Mohan chand Lakshman Das, Delhi.

S. Ram Chandra Rao- The Herones of the plays of Kalidasa, the Indian Institute of culture Banglore.

Williams, M.M., - English and Sanskrit Dictionary, Varanasi, 1961